विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधिय समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ७, अंक २ आषाढ़-भाद्र, २०२३

विषय सूची

त्राण	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	९५
,, हिंदी छाया		९६
महाज्ञान का अवतरण	गोपीनाथ कविराज	९७
नाथ-योगी संप्रदाय के 'द्वादशपंथ'	परशुराम चतुर्वेदी	१०३
चतुर्दण्डीप्रकाशिका	वि० वि० वभ्रुलवार	१२१
श्रीहर्ष का समय	गजानन शास्त्री मुसलगांवकर	१२७
बाणभट्ट की नारी दृष्टि	जगन्नाथ पाठक	१३२
आधुनिक भारतीय कला	बिनोद बिहारी मुकर्जी	१३९
बौद्धभिक्षुओं की आहारचर्या	चन्द्रशेखर प्रसाद	१५०
गोपालविजय का प्रेमधर्म	दुर्गेशचंद्र वन्द्योपाध्याय	१६२
नन्दलाल वसु	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१७१
आशीर्वाद (कविता)	,,	१७५
,, हिन्दी छाया		१७७
रीतिकालीन वस्त्राभरण	लल्लन राय	१७९
ग्रंथ समीक्षा	वि० सेन, रामसिंह तोमर	१९५
समीक्षार्थ प्राप्त ग्रंथ		१९९
स्मृति में		२००
शान्तिनिकेतन के पथ पर (चित्र)	नंदलाल वसु	

इस अक के लेखक (अकारादि क्रम से)

गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापक, सस्कृत विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० म० प० गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डि० लिट्०, काशी।

चन्द्रशेखर प्रसाद, एम० ए०, भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, विश्वभारती, पाली, तिब्बती, चीनी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान।

जगन्नाथ पाठक, एम० ए०, साहित्याचार्य, शोध-सहायक का० हि० वि० वि०, वाराणसी।

दुर्गेशचद्र बन्धोपाध्याय, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापक, बगला विभाग, विश्वभारती।

परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल्०एल्० बी०, सत साहित्य के गभीर विद्वान, लेखक, बलिया।

विनोद बिहारी मुकर्जी, प्रिंसिपल, कलाभवन, विश्वभारती।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष हिंदी भवन, शान्तिनिकेतन।

लल्लन राय, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापक, पजाब यूनिवर्सिटी, ईवनिंग कालेज, चण्डीगढ़।

विद्याधर व्यकटेश चमत्कार, अध्यापक, सगीत भवन, विश्वभारती।

विभूतिभूषण सेन, एम० एस्सी०, डी० एस्सी०, एफ० एन० आई०, अध्यक्ष गणित विभाग, विश्वभारती।

चित्रकार—आचार्य नंदलाल बसु

शान्तिनिकेतन के पथ पर

विश्वभारती पत्रिका

आषाढ़-भाद्र २०२३ | खण्ड ७, अंक २ | जुलाई-सितंबर १९६६

त्राण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ए दुर्भाग्य देश हते, हे मङ्गलमय,
दूर करे दाओ तुमि सर्व तुच्छ भय—
लोकभय, राजभय, मृत्युभय आर ।
दीनप्राण दुर्बलेर ए पाषाणभार,
एइ चिरपेषणयन्त्रणा, धूलितले
एइ नित्य अवनति, दण्डे पले पले
एइ आत्म-अवमान, अन्तरे बाहिरे
एइ दासत्वेर रज्जु, त्रस्त नतशिरे
सहस्रेर पदप्रान्ततले बारम्बार
मनुष्यमर्यादागर्व चिरपरिहार—
ए वृहत् लज्जाराशि चरण-आघाते
चूर्ण करि दूर करो । मंगलप्रभाते
मस्तक तुलिते दाओ अनन्त आकाशे
उदार आलोक-माझे उन्मुक्त बातासे ।

जून-जुलाई १९०१ 'नैवेद्य'

त्राण

(हिन्दी छाया)

हे मगलमय ! इस अभागे देश से
तुम दूर कर दो सभी तुच्छ भय—
लोकभय, राजभय, मृत्युभय और,
दीनप्राण दुर्बल का यह पाषाणभार,
यह चिरकाल से पिसते रहने का कष्ट, निम्नतम स्थिति
यह क्षण क्षण होनेवाली नित्य की अवनति,
यह चतुर्दिक होनेवाला आत्मा का अवमान
यह दासता की रज्जु (मे आवद्ध) एव त्रस्त (जीवन)
सहस्रो के पदतल मे वारबार नतमस्तक होना
मानव मर्यादा के गर्व का यह चिर परिहार—
इस अपार लज्जाराशि को चरण प्रहार से
चूर्ण करके दूर कर दो। मगलप्रभात मे
(हमारे) मस्तक को अनन्त आकाश मे उन्नत कर दो
उदार आलोक मे उन्मुक्त वायु मे।

महाज्ञान का अवतरण

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

पृथ्वी के सभी देशों में प्राचीनकाल से ही ज्ञान की सर्व्वातिशायिनी महिमा उद्घोषित होती रही है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, धर्म्मनिष्ठ साधक, आत्मतत्त्वान्वेषी योगी—सभी ज्ञान के अन्वेषण में तत्पर रहे हैं। इस ज्ञान में स्वगत भेद तो हैं ही, तदतिरिक्त ज्ञान की प्रत्येक धारा में भी अनेक अवान्तर भेद हैं। तदनन्तर प्रत्येक भेद में भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से देखने पर मात्रागत भेद वर्तमान हैं। ज्ञान बाह्यवस्तु-विषयक हो सकता है, आभ्यन्तर संस्थान-विषयक हो सकता है, एवं बाहर और भीतर से अतीत अर्थात् विश्वातीत सत्ता-विषयक भी हो सकता है। ज्ञान के प्रकार-भेद जो भी क्यों न हों, प्रत्येक क्षेत्र में ही ज्ञान की महिमा सर्व्वादिसिद्ध है।

हम ज्ञान के अवान्तर वैचित्र्य की ओर दृष्टि न डाल कर केवल ज्ञान के स्वरूप की ओर लक्ष्य रख कर ज्ञान के आविर्भाव के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करेंगे।

साधारणतः औपदेशिक व अनौपदेशिक भेद से ज्ञान को दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। औपदेशिक ज्ञान का मूल गुरु अथवा गुरुकल्प महात्मा का उपदेशात्मक शब्द है। सुतरां यह स्पष्टतः ही शब्दज्ञान के रूप में परिगणित होता है। किन्तु अनौपदेशिक ज्ञान साधारणतः परिचित शब्दराशि से उत्थित नहीं होता, वह अपने विवेक से उत्थित होता है। इसको प्रातिभज्ञान अर्थात् intuition कहा जाता है। साधारण दृष्टि से यह अनौपदेशिक ज्ञान ज्ञानों में श्रेष्ठ है। औपदेशिक ज्ञान परम्पराक्रम से शास्त्र व ग्रन्थादि द्वारा प्रकाशित हुआ करता है, किन्तु अनौपदेशिक ज्ञान जिज्ञासु-हृदय में स्वतः स्फूर्त्ति प्राप्त होता है। चित्तशुद्धि होने पर इस ज्ञान में भ्रम-प्रमादादि रहने की संभावना निवृत्त हो जाती है। ज्ञान का यह विश्लेषण सभी का परिचित है; किन्तु यह ज्ञान कितना भी मूल्यवान् क्यों न हो, परमज्ञान के रूप में वर्णित होने योग्य नहीं है। क्योंकि इस ज्ञान के प्रभाव से अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति संभव नहीं होती। कैवल्यमुक्ति-लाभ, कर्मक्षय अथवा संसार-धर्म से चिर अव्याहति—यह भी ज्ञान की पूर्णता का निदर्शन नहीं है। क्यों कि शुष्क ज्ञान जीव को माया-राज्य से अवश्य ही मुक्ति दिला सकता है, किन्तु पूर्णता नहीं दे सकता। दिव्य ज्ञान के बिना पूर्णतालाभ अथवा मानवजीवन की पूर्ण सार्थकता कभी भी घटित नहीं हो सकती। शुष्कज्ञान या तो पशुज्ञान होता है, नहीं तो पाशज्ञान अर्थात् पशु या जीव का प्रयत्न-जनित एवं तत्संबन्धी ज्ञानविशेष होता है। तपस्या, आराधना, विविध कर्म्म, भजन प्रभृति से इस ज्ञान का उद्भव होता है। इस की भी सार्थकता है। किन्तु आत्मा का परम स्वरूप जो शिवत्व या भगवत्ता है, वह इस के द्वारा अभिव्यक्त नही होती। जागतिक समस्त प्रकार के बन्धन ही पाश के अन्तर्गत हैं।

सुतरां जागतिक पदार्थ को आश्रय करके जिस ज्ञान का उदय होता है, वह कदापि पाशमुक्त शिवरूपी आत्मा के परम स्वरूप को उन्मीलित नहीं कर सकता। एकमात्र शिवज्ञान ही चरमदृष्टि से सम्यक् ज्ञान के रूप में गण्य हो सकता है। शिवज्ञान कहने से यही समझना चाहिये कि आत्मा स्वयं ही अनन्तशक्तिसम्पन्न नित्यमुक्त शिव या परमेश्वर से अभिन्न है—ऐसा ज्ञान। यह ज्ञान श्रीभगवान् के अनुग्रह के बिना जीव को प्राप्त होना असम्भव है। शास्त्र में कहा है—'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'। बात बिलकुल सच है। श्रीभगवान् की महाकरुणा के बिना इस शिवज्ञान का उदय जीव को प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

अब इस शिवज्ञानरूपी महाज्ञान की बात को ही कुछ विशद रूप से समझने की चेष्टा करेंगे।

यह ज्ञान बोधरूप एवं शिव से अभिन्न है। इसी का नामान्तर है, शैवी शक्ति अथवा महाशक्ति। यह महाशक्तिरूपा महाविद्या सर्व्वप्रकारेण परमेश्वर के साथ अभिन्न हो कर भी जीव और जगत् के कल्याण के लिये बहिर्मुख एवं निम्नाभिमुख हो कर सञ्चारित होती है। सृष्टि के समय एवं सृष्टि के बाद भी निरन्तर ज्ञान की यह अवतरणलीला चलती रहती है।

शास्त्रीय परिभाषा में यह ज्ञान परावाक् के रूप में प्रसिद्ध है। इस परावाक् की दो दिशायें या पहलू हैं। एक परमेश्वर के साथ नित्ययुक्त और अभिन्नस्वरूप है, दूसरा क्रमश बाहर की ओर प्रसरणशील है। परावाक् अवस्था मूलत श्रीभगवान् की स्वरूप-स्थिति की ही अवस्था है। अन्तर्मुखी अवस्था में महाप्रज्ञा-रूप में यह वाक् परम स्वरूप में निहित है, एवं बहिर्मुखी अवस्था में महाकरुणा-रूप में यह जीव और जगत् के अभिमुख धावित हो रही है। जो प्रज्ञा है, वही करुणा है, सुतरां करुणा के स्रोत में प्रज्ञा ही बहती है—यह कहना न होगा। गङ्गा का उद्भव विष्णुपद से होने पर भी गङ्गा का अवतरण हुआ था शिव के शिरोदेश में। यह गङ्गा ही ज्ञानगङ्गा है और जब ये अवतीर्ण हुई थीं, तब वे करुणा-रस-धारा-रूप में ही उतर कर आयी थीं। इस महाकरुणा को धारण करने का जीव में सामर्थ्य नहीं, इसीलिये जीव के परम स्वरूप स्वयं शिव ने इस करुणा-धारा को धारण किया था। सुतरां जो बाह्य गङ्गा का अवतरण है ज्ञानगंगा का अवतरण भी ठीक वही है। इसी का नाम है परा वाक् का अवतरण।

जब महाज्ञान परावाक्-भूमि से अवतीर्ण होता है, तब वह पहले किंचित् सङ्कुचित हो कर पश्यन्ती भूमि में उपनीत होता है। यहीं से एक प्रकार से वेद और तन्त्रादिक का आविर्भाव घटित होता है—ऐसा कहा जा सकता है। इस के बाद यह संकुचित अवस्था और भी संकुचित हो कर मध्यमाभूमि पर उतर आती है। जगत् के समस्त शास्त्र इसी भूमि में वर्तमान रहते

हैं एवं गुरुमण्डल इसी भूमि से ही इस समस्त दिव्य ज्ञानराशि को वैखरी में उतार लाते हैं। तब यह सब की बोधगम्य भाषा में प्रचारित होती है। यही ज्ञान के अवतरण का आपेक्षिक विवरण है।

हृदय ही मध्यमा वाक् का लीलाक्षेत्र है। यहाँ पश्यन्ती के समान ज्योति का प्राधान्य नहीं होता, किन्तु प्रकाश का एक अस्फुट आभास होता है। कहना न होगा, उतरने के समय इस का भी अनुभव नहीं होता, चढ़ते समय इसे समझा जाता है। इस भूमि पर शब्द के साथ अर्थ का भेदाभेद संवन्ध होता है। ज्ञान के साथ भी ठीक वैसा ही है, अर्थात् इस स्थान में 'शब्द' शब्द रह कर भी अर्थरूप में प्रकाशित होता है, एवं 'अर्थ' अर्थ हो कर भी शब्दरूप में आत्मप्रकाश करता है। उसी प्रकार, इस भूमि में ज्ञान ज्ञेयरूप और ज्ञेय ज्ञानरूप में दृष्ट होता है। अथच दोनों का निजस्व रूप अक्षुण्ण रहता है। शब्द यहाँ नादरूप में स्फुरित होता है। हृदय अनाहतचक्र नाम से प्रसिद्ध है, अतः आपाततः इस नाद को भी अनाहत कहा जा सकता है। इस के वाद सृष्टिमुखी गति और भी तीव्र होने पर मन और वायु की बहिर्गति जब कण्ठ-पर्यन्त आ कर वाग्यन्त्र को स्पर्श करती है, तब उच्चारणस्थान में वायु के आघातवशतः वर्ण की अभिव्यक्ति होती है। सुतरां वर्ण, वर्णमूलक पद, वाक्यादि समस्त भाषा कण्ठ से अभिव्यक्त होती है। यह प्रवाह ओष्ठ भेद करके बाहर वायुमण्डल में आ कर लीन हो जाता है। बहिर्मुखी सृष्टि की गति यहीं समाप्त होती है।

हृदय में वाक् का जो प्रकाश घटित होता है—उस का नाम मध्यमा, और कण्ठ में जो प्रकाश घटित होता है, उसका नाम है वैखरी। वैखरी भूमि पर शब्द और अर्थ पृथक् हो जाते हैं, ज्ञान एवं ज्ञेय वा अर्थ पृथक् हो जाते हैं एवं शब्द तथा ज्ञान भी परस्पर पृथक् हो जाते हैं। जब ज्ञान पश्यन्ती भूमि में विद्यमान रहता है, तव उस में 'इदं' भाव का स्फुरण नहीं होता। एकमात्र पूर्ण 'अहं' भाव का ही प्रकाश नित्यसिद्ध रूप में वर्तमान रहता है। वाच्य और वाचक का किञ्चित् भेद पश्यन्ती से मध्यमा में अवतरणोन्मुख रूप में अभिव्यक्त होता है। किन्तु मध्यमा भूमि पर बहुत सा अग्रसर हो जाने पर यह वाच्य वाचक भाव वेद्य-वेदक भाव में परिणत होता है। इन दो अवस्थाओं के बीच काफ़ी पार्थक्य है। वेद्य और वेदक भाव पदार्थ और तद्विषयक ज्ञान इन दोनों कोटियों का अवलम्बन कर के उदित होता है। इसी कारण ओङ्कार अथवा इष्ट मन्त्र की साधना के प्रसङ्ग में समग्र विश्व को भेद कर जव अर्धमात्रा में प्रवेश का अवसर आता है, तव सर्वप्रथम अर्थ परमार्थ में प्रतिष्ठित होने के मार्ग में ज्ञानरूप में आरूढ़ हो कर वाचक-शब्दरूप में आरोहण करता है। यह अवश्य है कि एकदम अन्त में वह भी नहीं रहता। उसी प्रकार ज्ञान के अवतरण के समय इसी के विपरीत क्रम में अर्थ

पहले वाचक शब्द द्वारा अनुविद्ध हो कर प्रकाशित होता है, पश्चात् इस ज्ञान के ज्ञेय रूप में आत्मप्रकाश करता है। यही बिन्दु की अवस्था है। इस के बाद वैखरी सृष्टि के साथ-साथ शब्द और ज्ञान दोनों से ही पृथक् रूप में अर्थ अवस्थित होता है। विश्व का समस्त ज्ञान, मूल में वैखरी भूमि पर अवतीर्ण होने के पहले, मध्यमा भूमि में उन्मिषित होता है।

गुरु अर्थात् गुरुरूपी शिव के पञ्चवक्त्र उन की स्वाभाविक पञ्चशक्ति के मूर्त्त रूप हैं। इन पाँच शक्तियों के नाम हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन्हीं पाँच धाराओं का अवलम्बन कर के समस्त ज्ञान अपने प्रकृतिगत भेदानुसार गुरु के मुखरूप में लक्षित होता है। अर्थात् गुरु के एक-एक मुख से एक-एक प्रकार के ज्ञान की धारा विभिन्न अवान्तर-भेद-विशिष्ट बन कर बहिर्जगत में प्रकाशित होती है। इसी कारण इस ज्ञान का अर्थात् शिव-मुख-निःसृत इस महाज्ञान का प्रकृत नाम 'आगम' है। इस ज्ञान के प्रकट होने के समय, परमेश्वर पूर्णतः अभिन्न और अद्वितीय होने पर भी गुरु और शिष्य के रूप में आत्मप्रकाश करते हैं। वस्तुतः वे स्वयं ही गुरु का रूप धर कर ज्ञान-प्रकाश करते हैं और शिष्य का रूप धर कर इस प्रकाशित ज्ञान को ग्रहण करते हैं। सदाशिव यहाँ पर गुरुभाव के प्रतीक हैं और ईश्वर शिष्यभाव के प्रतीक हैं।

तान्त्रिक परम्परा के भेदानुसार परिभाषा पृथक्-पृथक् है, इसी कारण से ये गुरु-शिष्य-भावापन्न सदाशिव और ईश्वर किसी-किसी स्थल में विभिन्न नामों से भी प्रकाशित हुआ करते हैं। सदाशिव से निर्गत ज्ञान ईश्वर-पर्यन्त अवतीर्ण हो कर उस स्थान से बाहर सञ्चारित होता है। वास्तविक पक्ष में सदाशिव और ईश्वर एक ही अभिन्न तत्त्व हैं, इस विषय में सन्देह नहीं है। ये समस्त धारा या स्रोत भिन्न स्वरूप-विशिष्ट हैं। इन के परस्पर मिश्रण से विभिन्न प्रकार के आम्नाय और स्रोतों का उद्भव होता है। अभेदज्ञान जिस मुख से निर्गत होता है, भेदज्ञान अथवा भेदाभेदज्ञान उस मुख से भिन्न अन्य मुख से निर्गत होता है। ये सब ज्ञान की धारायें निर्गत हो कर क्षेत्र विशेषों में परस्पर सङ्कीर्णता-लाभ करती हैं एवं तदनुरूप ज्ञान को अभिव्यक्त करती हैं।

महाज्ञान किस प्रकार अवतीर्ण होता है, इस की आलोचना करने जाने पर हम शिव के पञ्चमुख से निःसृत पञ्चस्रोत के परस्पर मिलन का सन्धान प्राप्त करते हैं। मध्यमा भूमि पर ये सब आगमराशि विद्यमान हैं, जो साक्षात् प्राप्त और परस्पर संयोग से अभिव्यक्त ज्ञानात्मक हैं। इस का अत्यल्प अंश ही स्थूल जगत् में वैखरी वाक् के माध्यम से प्रकाशित हुआ है। मध्यमा में सभी शास्त्रों का शब्दगत व भावगत रूप नित्य विद्यमान रहता है। प्रलय के समय विश्वरूप अर्थ की भाँति विश्वशास्त्र भी कारणसलिल में डूब जाता है। तब अभिनव सृष्टि

सम्पादन करने के लिये इस निमग्न शब्दराशि का पुनः उद्धार करना होता है। इसी का नाम है मन्त्रोद्धार व वेदोद्धार। यह उद्धारकार्य गुरुरूपी भगवान् स्वयं करते हैं। 'प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्'—यह जो वेदोद्धार की कथा सुनी जाती है, वह वस्तुतः कारणलीन शब्दराशि को पुनः कार्यरूप में अभिव्यक्त करना मात्र है, क्योंकि शब्द के अभिव्यक्त न होने पर वाच्य अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, और शब्द की सृष्टि पहले सिद्ध होने पर बाद में अर्थसृष्टि का सूत्रपात होता है। सद्गुरु शिष्य को दीक्षा देने के समय भी ठीक इसी के अनुरूप कार्य करते हैं, क्योंकि उन्हें भी कारण-सलिल से मन्त्रोद्धार कर के शिष्य को देना होता है। पुस्तक से किसी मन्त्र का उद्धार नहीं होता, हो भी नहीं सकता। पुस्तक में केवल सत्य-घटना का विवरण-मात्र मिलता है।

जगत् में शास्त्ररूप से युग-युगों में जितना ज्ञान का आविर्भाव हुआ है, वह सब समय के परिपाक से पुनः तिरोहित हो गया है। ज्ञान के तिरोधान के साथ-साथ अर्थात्मक प्रपञ्च का भी प्रलय घटित हुआ है। किन्तु इसे वैखरी वाक् की दिशा से जानना होगा। वैखरी वाक् से मध्यमा वाक् की ओर दृष्टिपात करने पर देखा जाता है कि इस भूमि में अर्थात् हृदय रूपी विराट् आकाश में समस्त ज्ञान ही नित्यस्वरूप में विधृत है। वस्तुतः किसी भी ज्ञान का लोप नहीं हुआ है, और हो भी नहीं सकता। शक्तिशाली योगी इस सब ज्ञान को प्रस्फुट कर कार्य में प्रयुक्त कर सकते हैं।

तन्त्रशास्त्र में ऐसी प्रसिद्ध है कि ज्ञान के अवतरण के आरम्भ में कोई-कोई ज्ञान धरातल पर अवतीर्ण होने के पहले किसी प्रबल शक्ति द्वारा आकृष्ट हो कर अवतरण के पथ में बाधाप्राप्त (बाधित) हुआ है। ये समस्त ज्ञान स्थूल जगत् में आने के पूर्व ही लुप्त हो गए हैं। स्थूल भूमि का कोई भी पुरुष उस का अन्वेषण कर के उसे स्थूल सत्ता में बाहर नहीं ला सकता। किन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं हुआ। वह अब भी भावजगत् में मध्यमा-भूमि में विद्यमान है।

तान्त्रिक ज्ञान के अवतरण की जो बात कही गई, ठीक इसी क्रम का अवलम्बन कर के वैदिक ज्ञान एवं अन्यान्य समस्त ज्ञान मूलस्थान से अवतीर्ण हो कर जगत् में प्रचारित हुआ है। सूक्ष्म वाक् साधारण जन के लिये तो दूर, साधारण ज्ञानी एवं योगी के लिए भी अगम्य है। किन्तु जिन सब ऋषियों ने धर्म-साक्षात्कार-लाभ किया है, उन्होंने इस सब ज्ञान को अपरोक्ष रूप से प्राप्त होकर उस के साथ कुछ विकल्प मिश्रित कर के विश्व कल्याण के लिये सविकल्प ज्ञान रूप में जगत् में प्रकट किया है।

इस सविकल्प ज्ञान में से शब्द के अंश योगबल से अपसारित कर पाने पर विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान की अभिव्यक्ति सम्पन्न होती है।

यह विकल्पसहकृत स्थूलज्ञान और तदुपदिष्ट शास्त्र 'निगम' नाम से प्रसिद्ध है। यह वैखरी रूप में सर्वत्र परिचित है। इस दृष्टि से देखे तो तन्त्र के अवतरण की भाँति वेद का भी अवतरण घटित होता है। तन्त्र यदि शिव के पञ्चमुखों से निःसृत होता है तो वेद ब्रह्मा के चतुर्मुखों से ठीक उसी रीति का अवलम्बन कर के निःसृत होते हैं।

शास्त्रानुसन्धान करने पर जाना जाता है कि भक्तिज्ञान भी ठीक इसी प्रणाली से ही पाञ्चरात्र शास्त्र रूप मे भगवान् नारायण के मुखकमल से विनिर्गत होता है।

ख्रिष्टीय (ईसाई) धर्म-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कोई कोई गुप्त सम्प्रदाय पूर्वानुरूप ज्ञान के आविर्भाव की बात कहते है। अन्यान्य धर्मसाहित्य मे भी इसी प्रकार की ज्ञानावतरण की बात वर्णित है। सुतरां चिदाकाश-रूप विष्णुपद से उद्भूता ज्ञानगङ्गा जगत् मे स्थूल रूप में अवतीर्ण होने के पहले व्योमकेश के व्योमरूपी शिरोदेश मे अवतीर्ण होती है। सभी सम्प्रदायो के सिद्धान्त इस विषय मे प्राय एक ही जैसे हैं।

नाथ-योगी-सम्प्रदाय के 'द्वादश-पंथ'

परशुराम चतुर्वेदी

नाथ-योगी सम्प्रदाय के इतिहास पर विचार करते समय हमारी दृष्टि, स्वभावतः, इसके उन अनेक पंथों वा शाखा-प्रशाखाओं की ओर भी चली जाती है जिनके विभिन्न केन्द्र भारत के प्रायः प्रत्येक भाग में बिखरे पड़े हैं। उनके विषय में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि वे पहले, केवल १२ पृथक्-पृथक् संस्थाओं के ही रूप में, संघटित हुए थे। इसीलिए, उन्हें 'द्वादश पंथ' की संज्ञा भी प्रदान की गई थी और तदनुसार, उनके ऐसे १२ नामों की कोई न कोई सूची भी प्रस्तुत की जाती है। अतएव, यदि हम उनके प्रवर्तन-काल का कोई समुचित पता पा सकें अथवा हमें केवल इतना भी विदित हो जा सके कि वे, अमुक व्यक्तियों द्वारा अथवा अमुक प्रकार की विशिष्ट परिस्थितियों में, स्थापित किये गये थे तो, संभव है, इससे उनके मूल सम्प्रदाय के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पड़ सके तथा उसकी अनेक बातें स्पष्ट हो जाँय। परन्तु इन द्वादश पंथों का हमें अभी तक ऐसा कोई प्रामाणिक तथा सर्व-स्वीकृत विवरण नहीं मिल पाया जिससे इस विषय में यथेष्ट सहायता ली जा सके अथवा जिसके आधार पर हमें केवल इतना भी ज्ञात हो सके कि उनका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा। उनकी आज तक उपलब्ध सूचियों की संख्या लगभग २० से ऊपर तक चली जाती है, किन्तु इन सभी में हमें पूरी एकरूपता नहीं लक्षित होती। इनमें सम्मिलित किये गये नामों में न्यूनाधिक विभिन्नता पायी जाती है और उनमें से किसी के द्वारा हमें ऐसा कोई स्पष्ट संकेत भी नहीं मिलता जिसके आधार पर इनमें से किसी एक को दूसरी से अधिक प्राचीन वा विश्वसनीय ठहराया जा सके। फिर भी इतना निश्चित है कि यदि इन सारी सूचियों का कोई तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तथा इस प्रकार इनके बीच किसी व्यवस्थित क्रम का अनुमान भी लगाया जा सके तो, अपने अनुसंधानकार्य में कुछ न कुछ प्रगति अवश्य हो सकेगी।

नाथ-पंथीय ग्रंथ 'गोरक्षसिद्धांत संग्रह' के अन्तर्गत, 'शाबरतंत्र' को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल. विकराल, महाकाल, कालभैरवनाथ, बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ, एवं श्रीकंठ ये १२ कापालिक हैं। वहीं पर उनके शिष्यों की भी १२ की ही संख्या बतलाकर उनके नाम नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कन्थाधारी, जलन्धर एवं मलयार्जुन दे दिये गये हैं तथा इन्हें 'मार्ग-प्रवर्तक' तक

भी ठहराया गया है।[१] इस दूसरी नामावली के कम से कम दो-तिहाई नाम ऐसे हैं जो 'नाथ-योगी सम्प्रदाय' में भी प्रसिद्ध हैं जिस कारण यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि इनके द्वारा सम्बोधित व्यक्ति, कदाचित वे ही हो सकते हैं जिनकी गणना प्राय उसके नवनाथो मे भी की जाती है तथा जिनके यहा पर 'मार्ग प्रवर्तक' भी कहलाने के कारण, उनका सम्बन्ध उक्त 'द्वादशपथ' के साथ होना असमव नहीं है। परन्तु इनकी सूची के शेष नाम हमे, इस सबध में उतने परिचित नहीं जान पडते और न उन सभी द्वारा कभी प्रवर्तित किये गये वैसे किन्हीं १२ 'मार्गो' वा पथों का यहा पर नामनिर्देश ही किया गया दीख पडता है जिससे हमे किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुचने में कोई सहायता मिल सके और इस प्रकार, हम यह कह सके कि इनमे से कोई भी व्यक्ति अमुक पथ का प्रवर्तक रहा भी होगा वा नहीं। यहा पर हमे केवल इतना ही पता चलता है कि उक्त दूसरी सूची के नाम वाले, पहली सूची के नामधारियो का किसी-न-किसी रूप में अनुसरण करने वाले व्यक्ति रहे होंगे तथा उन्होने किसी समय अपने 'मार्गों' वा पथो की स्थापना भी की होगी।

प्रो० ब्रिग्स ने किसी ऐसी परम्परा का उल्लेख किया है जिसका उन्होने, गोरक्षटिल्ला (जि० झेलम, पजाब) मे, प्रचलित होना बतलाया है तथा जिसके आधार पर, उनके अनुसार,

---

१ "आदिनाथो अनादिश्च, कालश्चैवातिकालक ।
करालो विकरालश्च, महाकालश्च सप्तम ॥
कालभैरव नाथश्च, बटुकस्तदनन्तरम् ।
भूतनाथो वीरनाथ, श्रीकण्ठो द्वादशो मत ॥
एते कापालिका प्रोक्ता, वीरनुम्वी महाफलै ।
शिष्याणा सूर्य सख्या च, तानिह वच्मि सश्शृणु ॥
नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्र स्तृतीयक ।
सत्यनाथो भीमनाथो, गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥
अवद्यस्चैव वैराग्य', कन्थाधारी जलन्धर' ।
मार्ग प्रवर्तकाख्ये ते, तद्वश्च मलयार्जुन ॥

सरस्वती भवन टैक्ट्स १८, खण्ड १, पृ० १८-१९

प्राचीन शैव सम्प्रदायों का भी कुछ न कुछ संकेत मिल जाता है ।२ 'टिल्ला' वालों का कहना है कि पहले १८ पंथ ऐसे थे जिन्हें शिव ने प्रवर्तित किया था और १२ वे थे जिन्हें गुरु गोरखनाथ ने चलाया था। फिर पीछे, जब इन दोनों वर्गों वालों में परस्पर संघर्ष होने लगा तो, इसके परिणाम स्वरूप, उक्त प्रथम के ६ तथा, उसी प्रकार द्वितीय के ६, अंत में, शेष रह गये और इन्हीं के नाम, कनफटा योगियों में 'द्वादशपंथ' में परिगणित किये जाने लगे। प्रो० ब्रिग्स ने उक्त कुल १८ एवं १२ पंथों की कोई पूरी सूची नहीं दी है और न उन्होंने हमें यही बतलाया है कि इनका सर्वप्रथम संघटन कब हुआ था अथवा इनका ३० में से छँटकर केवल १२ मात्र ही रह जाना किस प्रकार सम्भव हुआ। उन्होंने, इन बचे हुए पंथों की तालिका देते समय, इतना मात्र कहा है कि इनमें से (१) 'कच्छ प्रांत के भुजवाला, कंथड़ नाथ', (२) पेशावर एवं रोहतक वाला 'पागलनाथ', (३) अफगानिस्तान का 'रावल', (४) 'पंख', (५) मारवाड़ का 'वन' एवं (६) 'गोपाल', वा 'राम के' नामों से सूचित होने वाले पंथ शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं तथा इसी प्रकार, (७) 'हेठनाथ', (८) विमला देवी वाले आई पंथ का 'चौलीनाथ', (९) 'चन्दनाथ' कपलानी, (१०) रनढोंढा (मारवाड़ का) 'वैराग' वा रतननाथ, (११) जयपुर का पावनाथ (जिसमें जालन्धर या कानिपा और गोपीचंद भी सम्मिलित हैं) एवं (१२) 'धज्जनाथ' (जिसके सदस्य विदेशी लोग हैं) ये गुरु गोरखनाथ द्वारा चलाये गये हैं। उनके अनुसार ऐसी परम्परा के आधार पर हमारे इस अनुमान को भी बल मिल सकता है कि किस प्रकार गुरु गोरखनाथ ने प्राचीन शैव सम्प्रदायों को नवीन रूप दे दिया होगा। इसके सिवाय इतना और भी समझ लिया जा सकता है कि उक्त प्रथम ६ की सूची वाले पंथ, संभवतः दूसरी वालों से प्राचीनतर भी रहे होंगे।

परन्तु एक महानुभावीय ग्रंथ के अन्तर्गत हमें ऐसे ३० पंथों के भी नाम बतलाये गये दीख पड़ते हैं जिन्हें लगभग उक्त प्रकार से ही १८ एवं १२ के दो भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया गया है, किन्तु जिन्हें वहां पर क्रमशः 'अठरापंथजती' एवं 'बारापंथी योगी' जैसे पृथक्-पृथक् नाम भी दिये गये हैं।३ जिस कारण यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता कि इनमें से किसका मूल प्रवर्तक कौन रहा होगा। इसके अतिरिक्त यहां पर हमें इस बात की भी कोई सूचना

---

२. ब्रिग्स, जी० डबल्यू० : गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़, कलकत्ता, १९३८, पृ० ६३।

३. ढेरे, रामचन्द्र चिंतामण : 'श्रीगुरु गोरक्षनाथः चरित्र आणि परम्परा' (नाथसम्प्रदायाचा इतिहास), मुंबई १९५९ ई० के पृष्ठ ६२ पर 'मतिरत्नाकर', पृ० ९६ से उद्धृत।

नहीं मिलती कि इनमें से किसी के पथ का कभी विघटन हुआ भी था नहीं, उक्त ग्रथ से उद्धृत किये गये पाठ वाले सभी नाम स्पष्ट नहीं हैं और कुछ तो सदिग्ध से भी लगते हैं, किन्तु ये किसी एक मतविशेष की ओर सकेत करते हैं जिस कारण, कदाचित् इनके भी आधार पर हमे तथ्य का परिचय पाने में कुछ न कुछ सहायता मिल सकती है। इस मत के अनुसार (१) नाटेश्वरी (२) लक्ष्मणपथी (३) पार्वतीनाथी (४) अभगनाथी (५) कापिल (६) भरथरीवैराग्य (७) पख (८) आई पथ (९) राउल (१०) पावपथी (११) पागुल एव (१२) दासमार्गी ये 'वारापथी योगी' थे इसी प्रकार (१३) सतनाथपथी (१४) सांतीनाथी (१५) गुलक्म (?) (१६) रमनाथी (१७) हायसेखोन (१८) उखालपथी (१९) नाथलक्षण (२०) रामनाथी (२१) वक नाथी (२२) वैरागी (२३) गमपथी, (२४) चोलीक (२५) गगनाथी (२६) गोपालपथी (२७) हेमार्गी (२८) धनजय (२९) गजकथडी एव (३०) नागार्जुनपथी ये 'अठरापथजती' थे। इन ३० में से कई की गणना उपर्युक्त प्रो० ब्रिग्स की सूचियों में भी की गई दीख पडती है। परन्तु यदि इनमें से 'वारापथी योगी' वालों की, उनके अनुसार गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित तथा 'अठरापथजती' वालो को भी, उसी प्रकार, शिव द्वारा चलाया गया मान लिया जाय उस दशा में, एक वर्ग के नामों के दूसरे में पाये जाने की समस्या खडी हो जाती है। इस कारण, हमारे लिए किसी एक को दूसरे से प्राचीनतर स्वीकार करने के लिए उनका असदिग्ध आधार भी नहीं रह जाता जिससे आवश्यक सहायता मिल सके।

'द्वादशपथी' की प्रो० ब्रिग्स वाली उपर्युक्त सूची के नाम उस एक अन्य ऐसी ही तालिका में भी आ गये हैं, जिसे, 'सत्यनाथ तीर्थ' नामक एक छोटे से साम्प्रदायिक ग्रथ के अन्तर्गत 'वारह पथ सग्रह' शीर्षक के, नीचे, प्रथम स्थान दिया गया है।[४] इसके आगे उस पुस्तक में ४ अन्य ऐसी सूचिया भी दी गई हैं तथा, इसी प्रकार, एक ५वीं सूची उसके अतिम पृष्ठ पर भी आती है। परन्तु इन छह में से किसी के भी सभी नाम ठीक वे ही नहीं जान पड़ते जिनका उल्लेख प्रो० ब्रिग्स ने उक्त प्रकार से किया। इस कारण अधिक से अधिक उपर्युक्त दो हो मात्र का आधार एक समझा जा सकता है शेष के लिए अन्य आधारों का भी अनुमान किया जा सकता है। इन दोनो पर्यो वाले नामों से हमें केवल इतना ही अन्तर दीख पडता है कि एक तो उन्हें दोनो के अन्तर्गत ठीक एक ही क्रमानुसार दिया गया नहीं पाया जाता और दूसरा यह कि प्रथम के 'पागल' को यहां 'पाक्ल तथा उसके 'हेठ' को 'हेत'—जैसे रूप

---

४ पाव, पाकल, ध्वज, रावल, चौली कन्थड, चन्द, वेराग, हेत, वन, पख, गोपाल ॥१॥—'गोरक्षग्रन्थमाला, पुष्प ७६, योगप्रचारिणी गोरक्षटिल्ला काशी, २०१६, पृ० १३।

दे दिये गये दीखते हैं जो, कदाचित् उच्चारण भेद के भी कारण, संभव हो सकता है जिस कारण इस बात को उतना महत्व भी नहीं दिया जा सकता। 'सत्यनाथ तीर्थ' वाली उक्त अन्य ऐसी सूचियों में से द्वितीय के अन्तर्गत केवल ९ नाम ही आये हैं, जिससे यह अधूरी भी कहीं जा जकती है। परन्तु इसके ये नाम भी ग्रंथ की तृतीय सूची वाले वैसे नामों से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होते। इन दोनों से न्यूनाधिक मिलती-जुलती एक सूची हमें अन्यत्र भी मिल जाती है, जिसका विवरण 'बारह पंथी की साखी' नामक एक छोटी सी रचना में उपलब्ध है। यह रचना अभी हस्तलिखित रूप में ही मिल सकी है और यह बीकानेर की 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी' में सुरक्षित है।[५] अतएव, यदि हम इन तीनों ही सूचियों के लिए किसी एक सामान्य आधार की कल्पना कर सकें और तदनंतर इनके अनुसार उपलब्ध परिणाम का, उपर्युक्त दोनों सूचियों पर आश्रित अनुमान के साथ, कोई तुलनात्मक अध्ययन भी कर सकें तो, यह संभव है कि, हमें इन पांचों के भी विषय में कोई स्पष्ट संकेत अवश्य मिल जाय।

'बारहपंथी की साखी' वाले उपर्युक्त विवरण में आये हुए १२ नामों की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :

(१) हेतपंथी (२) आई जोगी (३) पांपाचपंथी (४) रावल जोगी (५) खंथड़ जोगी (६) पागल जोगी (७) धजजोगी (८) गमनिरंजन (९) चोली पंथी (१०) वनजोगी (११) दास जोगी एवं (१२) पंख जोगी।

और यदि 'सत्यनाथतीर्थ' वाली द्वितीय सूची[६] को अधूरी मानकर उसे छोड़ दिया जाय, तो, उसकी वैसे ही नामों की तृतीय पूरी सूची का नाम-क्रम एवं विवरण इस रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) पाकल (२) रावल (३) दास (४) कंथड़ (५) पाव (६) वन (७) आई (८) हेत (९) धज (१०) गोपाल (११) चोली एवं (१२) गम।

जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों में बहुत कुछ साम्य है और अंतर बहुत कम है। दोनों पूरी सूचियों में ही 'हेत', 'आई', 'रावल', 'कंथड़', 'धज', 'चोली', 'वन', 'गम' एवं 'दास' में ९ नाम प्रायः ठीक एक समान आये हैं, एक के 'पागल' एवं दूसरे के 'पाकल' में कोई विशेष अंतर नहीं है तथा उसका 'पांवा' भी कदाचित इसके 'पाव' से अधिक भिन्न नहीं जान पड़ता।

---

५. अगरचन्द नाहटा : 'नाथ सम्प्रदाय के बारहपंथ' (प्राच्यभारती) मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर, अंक ४७, पृ० ५०-४।

६. 'रावल, पागल, वन (वनि, वनखण्डी) गमी, आयपंथ, पाकी, धुज, गोपाल राम गोरक्षपंथी ॥२॥—सत्यनाथ तीर्थ, पृ० १३।

केवल पहली के 'पख' का दूसरी में तथा दूसरी के 'गोपाल' का पहली में कहीं पता नहीं चलता और न इसका हमें कोई कारण ही ज्ञात होता है। अतएव, यदि पाचो ही सूचियो वाले नामों का एक तुलनात्मक अध्ययन फिर किया जाय तो, हमें कम से कम 'रावल', 'कथड़', 'पागल, 'धज', 'चोली', 'वन' एव 'पख' प्राय एक समान जान पड़ेंगे, 'हेत' का 'हेठ' वन गया प्रतीत होगा तथा इसी प्रकार 'पापा' का 'पावा' और 'पाव' भी एक सिद्ध हो सकेंगे। केवल 'आई' तथा 'चद', 'गम', तथा 'वैराग' तथा 'दास' और 'गोपाल' के ही एक समान होने में कुछ संदेह किया जा सकेगा। इसी प्रकार, यदि 'बारह पथी की साखी वाली सूची उपर्युक्त प्रो० ब्रिग्स वाली सूची से किसी प्रकार प्राचीनतर ठहरायी जा सके तो, यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उसके 'आई', 'गम निरजन' तथा 'दास' नामक पथों में पीछे कुछ परिवर्तन आ गया होगा। इसके सिवाय, इनके विवरणों के सम्बन्ध में विचार करने पर, हमें ऐसा भी लगता है कि इनमे से किसी एक के लिए शिव द्वारा पूर्व प्रवर्तित तथा दूसरी के लिए गुरु गोरखनाथ द्वारा पूर्व प्रवर्तित मान लेने के लिए भी कोई निरा काल्पनिक आधार ही रहा होगा। इनमें से प्रथम वर्ग के लिए पथों की सख्या का १८ होना तथा द्वितीय वर्ग के लिए केवल १२ तक ही रह जाना भी, विश्वसनीय प्रमाणो के अभाव में, किसी तथ्य पर आधारित नहीं जान पड़ता। जोधपुर के नाथ पथी महाराज मानसिंह (सन् १७८३-१८४३ ई०) की कतिपय पक्तियो से तो हमें ऐसा जान पड़ता है कि योगियो के 'पावन पथ' वस्तुत 'द्वादश' ही रहे होंगे और उनके साथ-साथ छह और भी 'अद्भुत वर्गों की गणना कर दी जाती रही होगी जिनके नाम भी उन्होंने दिये हैं। तदनुसार (१) हेत (२) पाव (३) आई (४) गम (५) पागल (६) गोपाल (७) दास (८) कथड (९) वन (१०) धज (११) चोली एव (१२) पच (कदाचित् 'पख') की गणना उन्होंने द्वादश पथ में की है और (१) नाटेश्वर (२) सतनाथ (३) गगनाथ (४) रामके (५) कपिल (कदाचित् कपिलानी) एव (६) वैराग को शेष छह में रखा है जिसमे कुल की सख्या १८ की हो जाती है।[७]

---

७ 'हेतु, पाव, आई हठा, गमपागल, गोपाल।
दास, कथडा देखिए, वन ध्वज तेज विशाल ॥३४॥
चोली, पच क्रियाचतुर, गाये मुनिजन ग्रथ।
योगिण के ये अग महा, पावन द्वादश पथ ॥३५॥
निर्मल तप नाटेश्वर, सतनाथ सुचि रीत।
अवनि गगनाथी अवम, पुनि रामके पुनीत ॥३६॥
विदित कपिल वैराग के, ए षट ह् अदभूत ॥३७॥
—मानसिंह रचित 'नाथ चरित्र' (हिन्दी) के 'द्वादश पदार्थ' से उद्धृत।

'द्वादश पंथ' वाले नामों की हमें कुछ ऐसी भी सूचियां प्राप्त हैं जिनके प्रवर्त्तकों को स्पष्ट शब्दों में गुरु गोरखनाथ का शिष्य कहा गया है और फिर भी ऐसे व्यक्तियों के नामों में बहुत अन्तर भी दीख पड़ता है। मेकलेगैन वाली पंजाब की जन-गणना रिपोर्ट (सन् १८९१ ई०) से पता चलता है कि इस प्रकार की सूची के अन्तर्गत जो नाम आये थे वे ये हैं :—(१) संतनाथ, (२) रामनाथ, (३) अभंगनाथ, (४) भरंगनाथ, (५) घरनाथ, (६) गंगाई नाथ, (७) अजनाथ, (८) जालन्धर नाथ, (९) दर्पनाथ (१०) कनकनाथ, (११) नीमनाथ और (१२) नागनाथ८ जो मौ० नूर अहमद की पुस्तक 'तहकीकाते चिश्ती' में भी प्रायः ठीक इन्हीं रूपों में पाये जाते हैं। एक प्रमुख अन्तर यह है कि उनकी संख्या केवल ९ की है जिस कारण उनमें इसके भरंगनाथ, दर्पनाथ एवं नीमनाथ का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।९ इसी प्रकार वैसे १२ नाम हमें मारवाड़ की जन-गणना सम्बन्धी सन् १८९५ ई० वाली रिपोर्ट में भी दीख पडते हैं जो इस प्रकार हैं :—(१) संतनाथ (२) रामनाथ (३) भृंगनाथ (४) धर्मनाथ (५) वैरागनाथ (६) दरियानाथ (७) गंगनाथ (८) ध्वजानाथ (९) सिद्ध विचारनाथ (१०) नागनाथ (११) गंगाई नाथ और (१२) लछमननाथ,१० जिन्हें हम प्रायः इन्ही रूपों में रोज़ के ग्रन्थ 'ग्लॉसरी' में भी पाते हैं। इसके सिवाय इन्हीं नामों को हम, एक अन्य पुस्तक११ के भी अन्तर्गत, 'श्री गुरु गोरक्षनाथ जी योगेश्वर के १२ शिष्य' शीर्षक के नीचे देखते हैं। रोज़ वाली सूची में केवल ७ ही नाम आये हैं जिस कारण वह अधूरी भी कही जा सकती है तथा उसमें पाये जाने वाले दो नामों अर्थात् 'कापिक नाथ' एवं 'नीमनाथ', इसके अनुसार, नितांत नवीन भी जान पड़ते हैं।१२ गुरु गोरखनाथ के १२ शिष्यों की एक ऐसी ही सूची विलियम क्रुक ने किसी पंजाब-सम्बन्धी पुस्तक१३ से उद्धृत की है और इसकी चर्चा इन्होंने कनफटा लोगों के प्रसंग में की है। इसका विवरण नीचे लिखे ढंग से दिया गया मिलता है :—

---

८. मैकलेगैन : पंजाब सेंसस् रिपोर्ट, पृ० ११४।

९. ब्रिग्स जी. डबल्यू : गोरखनाथ एण्ड द कानफटा योगीज़—के पृष्ठ ७४ वाले चार्ट में उद्धृत।

१०. 'प्राच्य भारती' (१९६३-४) के पृष्ठ ५२ पर उद्धृत।

११. 'श्री सिद्धनाथ संहिता विवेकसागर' (संग्रहकर्त्ता श्री विवेकनाथ जी महाराज), इन्दुवारी बाहर मठ, बीकानेर, सं० २०२१, पृ० ३२८-९।

१२. रोज़, एच, ए. : ए ग्लोसरी आफ द ट्राइब्स् एण्ड कास्ट्स् आफ द पंजाब एण्ड दि नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्राविंसेज (३ जिल्द, १९१४) जिल्द २ पृ० ३९०।

१३. पंजाब नोटस् एण्ड क्वैरीज़, खण्ड २ पृ० ४५।

(१) मठेसरी के सस्थापक गोरखशिष्य लक्ष्मण (२) सतनाथ (जो ब्रह्मा का अनुसरण करने वाले कहे गये हैं) (३) सतनाथ (जिन्ह रामचन्द्र का अनुयायी कहा गया है) (४) भर्तृनाथ (५) पपख (६) कामरज (७) हैठकौली (८) ब्रजरजपथ (९) चन्द्मरग (१०) दाम गोपाल (११) मस्तनाथ और (१२) आर्यपथ जिनमें से कुछ तो व्यक्तिवाचक जान पडते हैं, किन्तु अन्य केवल सख्या-सूचक से ही लगते है। इन सभी के साथ उपर्युक्त नामों की तुलना करने पर यथेष्ट साम्य भी नहीं दीख पडता जिसके आधार पर कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सके। क्रुक ने यहा पर यह भी बतला दिया है कि कनफटा लोग प्राय केवल चार ही गोरखशिष्यो ब्रह्मा, राम, लक्ष्मण तथा कपिलानी के नाम लिखा करते है और अन्य को उतना महत्व देते नहीं जान पडते।१४ परन्तु गोरखपथी 'जोगियों का परिचय देते समय उस लेखक ने जहा वैसे शिष्यों के नाम लिये हैं वहां पर उसने दो अन्य सूचियाँ भी दी हैं जो इस प्रकार है —

(क) सतनाथ, धर्मनाथ, कामनाथ, आद्नाथ, मस्तनाथ, अमपथी, कलेया, धजपथी, हटीविरग, रामके, लछमन के एव दरियानाथ तथा (ख) आईपथ, रामके, भर्त्तरी, सतनाथ, कनिक की, कपलमुनि, लछमण, नटेसर, रतननाथ, सतोखनाथ, धजपथी और माननाथ१५ जिनके आधार पर भी हमें कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

अतएव, इस वर्ग की उपर्युक्त सभी सूचियों की तुलना करने पर, हमें केवल धजनाथ का ही नाम सर्वत्र मिलता है और इसके अनतर फिर सतनाथ एव रामनाथ का रामके तथा भरग के नाम लगभग एक समान आते हैं। नागनाथ और फिर इससे भी कम धर्मनाथ, दरिया, वैराग, मस्तनाथ, रामनाथ, भर्त्तरी, नीमनाथ, गगनाथ और गगाई नाथ आये हैं, जिस कारण कहा जा सकता है कि ऐसी सूचियों मे हमें उतने नाम-साम्य के उदाहरण नहीं मिलते।१६

नाथ-योगी सम्प्रदाय के गोरखपुर वाले केन्द्र की परम्परा के अनुसार द्वादशपथों के नाम इस प्रकार दिये जाते हैं —

(१) सत्यनाथी (२) धर्मनाथी (३) रामपथ (४) नाटेश्वरी (५) कन्हड, (६) कपिलानी (७) वेराग (८) माननाथी (९) आई पथ (१०) पागल (११) ध्वजपथ और (१२) गगानाथी, जिससे

---

१४ क्रुक, विलियम दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् आदि खण्ड ३ पृ० १५४।

१५ वही, पृ० ५९।

१६ श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय 'श्री श्रीयोगीराज गम्भीर नाथ'। (फनी जि० नोआखाली, १३३३ व०), पृ० ४९।

यह भी प्रकट होता है कि ये उपर्युक्त सूचियों वाले नामों से कुछ भिन्न ठहरते हैं। इनमें न तो उनका 'हेत' है न 'पाव' है, न 'रावल' है, न 'गम' है, न 'चोली' है, न 'वन' है, न 'दास' है और न 'पंख' ही दीख पड़ता है। इनमें उनमें से प्राचीनतम जान पड़ने वाली 'साखा' की सूची के केवल कन्हड़ (कंथड़), पागल, आई और ध्वज (धज) मात्र ही रह गये हैं। इनके अन्तर्गत वैराग और कपिलानी (चंद) भी दिखलाई पड़ते हैं जो ब्रिग्स द्वारा दी गई सूची में भी वहां पर संगृहीत हैं और जिसके आधार पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि ये नाम वहां किसी पिछले परिवर्तन के परिणाम स्वरूप आगये होंगे। प्रो० ब्रिग्स का तो यह भी कहना है कि 'सत्यनाथ' भी (जिसे उक्त गोरखपुरी परम्परावाली सूची के अनुसार यहाँ 'सत्यनाथी' कहा गया दीख पड़ता है) गोरक्षटिल्ला की परम्परा के अनुसार वस्तुतः प्राचीन 'पंख' नामक पंथ से संबद्ध माना जाता है।१७ इसी प्रकार संभवतः 'धर्मनाथी' भी 'पंख' में ही आ जाता है तथा 'नाटेश्वरी' को 'हेठनाथ' (हेत) के साथ जोड़ दिया जाता है।१८ यह सूची कदाचित् अधिक प्रचलित है और इसके नामों की तुलना में हम ४ अन्य सूचियां भी यहां पर उद्धृत कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—'सत्यनाथतीर्थ' की पांचवीं सूची१९ :

(१) सत्यनाथ (२) धर्मनाथ (३) वैराग्य (४) राम (५) कपलानी (६) पागल (७) नटेश्वरी (८) मन्नाथ (९) गंगानाथ (१०) रावल (११) पाव, और (१२) आई।

२—'सत्यनाथ तीर्थ' की छठी सूची२० :

(१) सत्यनाथी (२) धर्मनाथी (३) कपिल के (४) राम के (५) गंगानाथ के (६) आई पंथी (७) मन्नाथी (८) .... (९) रावल (१०) पागल (११) दरियानाथी और (१२) पावपंथी।

---

१७. गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़, पृ० ६३।

१८. 'नाथ सिद्धों की 'बानियाँ' (सं० डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, सं० २०१४), पृ० १२-३ भूमिका।

१९. 'सत्यनाथ तीर्थ', पृ० १४ (पीठिका)।

२०. वही, पृ० ६४।

३—डा० कल्याणी मल्लिक की सूची[२१]

(१) सत्यनाथ (२) रामनाथ (३) धर्मनाथ (४) लक्ष्मणनाथ (५) दरियानाथ (६) गगानाथ (७) वैरागनाथ (८) रावल (९) जालधरिपा (१०) आई पथ (११) कपलानी (१२) धजनाथ और (१३) कानिपा।

४—डा० चन्दोला की सूची[२२]

(१) सत्यनाथ (२) रामनाथ (३) धर्मनाथ (४) लक्ष्मणनाथ (५) दरियानाथ (६) गगानाथ (७) वैरागनाथ (८) पागल (९) पावनाथ (१०) आईपथ (११) कपिलनाथ और (१२) धजनाथ।

इन चार तथा गोरखपुरी परम्परा वाली सूची मे भी सत्यनाथ, धर्मनाथ, रामनाथ, आई पथ, कपिलानी एव गगानाथी ये ६ एक समान जान पडते है। इनमे से ४ में वैरागनाथ तथा पागल है ३ में पावनाथ, दरियानाथी, रावल तथा धजनाथ है तथा २ मे नाटेश्वरी, लक्ष्मणनाथ और मन्ननाथी भी किसी न किसी रूप मे आ गये दीख पडते है। केवल १ में कथड़ और १ मे ही कानिपा भी पाया जाता है और यह दूसरा वस्तुत १३वां पथ बनकर यहां प्रवेश कर गया है।

कानिपा पथ को एक तेरहवा स्थान प्रदान करने की प्रथा हमें प्रो० ब्रिग्स की उस सूची मे भी दीख पडती है जिसे उन्होने अन्यत्र कुछ अधिक विवरण के साथ दिया है[२३] तथा जिससे ३ अन्य सूचियों को भी एक समान ठहराया जा सकता है। तदनुसार इन चारों के भी नाम क्रमश निम्न रूप में दिये जा सकते हैं —

१—प्रो० ब्रिग्स की सूची स० (२)

(१) सतनाथ (२) रामनाथ (रामके) (३) धरमनाथ (४) लक्ष्मणनाथ (५) दरयानाथ (६) गगानाथ (७) वैरागनाथ (८) रावल वा नागनाथ (९) जालधरिपा (१०) आई पथ (११) कपलानी (१२) धजनाथ और (१३) कानिपा।

---

२१ 'नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधन प्रणाली' कलिकाता विश्वविद्यालय, १९५० ई०, पृ० ९१-३।

२२ 'नाथ सम्प्रदाय के हिन्दी कवि' (अप्रकाशित निबध, १९५६ ई०)।

२३ गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ पृ० ६२-९।

२—'सत्यनाथ तीर्थ' की ४ थी सूची[२४] :

(१) आई पंथी (२) कपिलानी (३) सत्यपंथी (४) धर्मपंथी (५) वैराग पंथी (६) गंगानाथी (७) रामपंथी (८) लक्ष्मणपंथी (९) नटेसरी (१०) पिंगल पंथी (११) धजपंथी और (१२) कान्हपा ।

३—डा० ह० प्र० द्विवेदी की सूची[२५] :

(१) सत्यनाथी (२) धर्मनाथी (३) रामनाथ (४) लक्ष्मणनाथ (५) जालंधरिपा (६) कपिलानी (७) वैरागपंथ (८) नागनाथ (९) आई पंथ (१०) दरियानाथ (११) धजपंथ (१२) गंगानाथी और (१३) कानिपा ।

४—दबिस्ताने मज़ाहिब की सूची[२६] :

(१) सत्यनाथ (२) नटीरी (३) वैराग (४) आई पंथी (५) चोली (६) हांडी (७) कश्यप (८) अर्धनारी (९) नामारा (१०) अमरनाथ (११) कान्हिवदास और (१२) तारानकदास ।

इन चारों सूचियों में केवल सतनाथ वा सत्यनाथ, वैराग नाथ, आई पंथ एवं कानिपा ही किसी न किसी रूप में सर्वत्र पाये जाते हैं। उसी प्रकार धर्मनाथ, रामनाथ, गंगानाथ, लक्ष्मण-नाथ, कपिलानी एवं धजनाथ भी तीन में लगभग एक समान हैं और दरियानाथ, नागनाथ तथा जालंधरिपा केवल दो में ही आते हैं। इनकी तथा गोरखपुर वाली सूची की भी नामावलियों में वस्तुतः विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता और जो कुछ बातें भिन्न-भिन्न जान पड़ती हैं, वे उतनी स्पष्ट नहीं। परन्तु 'दबिस्ताने मज़ाहिब' वाली सूची के अन्तर्गत कुछ ऐसे नाम भी आ गये हैं जिनका अन्यत्र पता नहीं चलता।

अतएव, यदि उपर्युक्त सारी सूचियों पर एक साथ विचार किया जाय तो इसके फलस्वरूप हमारे सामने कुछ ऐसे भी परिणाम आ सकते हैं जिनके आधार पर हमें 'द्वादश पंथ' के

---

२४. पृष्ठ १४ (पीठिका)।

२५. 'नाथ सम्प्रदाय' इलाहाबाद, १९५० ई० पृ० १३।

२६. गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ आन दि चार्ट फेसिंग पृ० ७४ : खण्ड २ पृ० १२८ के अनुसार।

विषय में अनुमान करते समय उतनी कठिनाई नहीं रह जाती। इतना स्पष्ट हो जाता है कि उनमें आये हुए नामों का समावेश एक ही समय तथा एक ही मत के अनुसार भी नहीं किया गया होगा। इन सभी के बनाने वालों का उद्देश्य एकमात्र 'द्वादशपथ' का परिचय देना होने पर भी, उन्होंने ऐसा करते समय अपने यहां की प्रचलित साम्प्रदायिक परम्परा का अनुसरण अवश्य किया होगा तथा उसी के अनुसार उन्होंने अपने लिए विविध नाम भी चुने होंगे। इसके सिवाय, यह भी सम्भव है कि उन्होंने, अपनी इस प्रकार की मनोवृत्ति के ही कारण, कभी-कभी पहले से आते हुए नामों में से कुछ को निकालकर उनकी जगह ऐसे अन्य नाम भी डाल दिये होंगे जिन्हें उन्होंने अधिक महत्त्वपूर्ण समझा होगा। सर्वप्रथम सूची किसने और कब तैयार की होगी इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता और न हमें इस समय यही निश्चित रूप से ज्ञात हो पाता है कि 'द्वादशपथ' की भावना का वास्तविक मूल आधार क्या रहा होगा। उपर्युक्त सामग्रियों की सहायता से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि या तो इस प्रकार की कल्पना, किसी अन्य सम्प्रदाय में प्रचलित परम्परा के अनुसरण में, कर ली गई होगी अथवा गुरु गोरखनाथ के 'शिष्य-प्रशिष्यों' में से किसी को स्वयं इसकी उपयोगिता जान पडी होगी और उसने, अपनी साम्प्रदायिक संगठन-पद्धति का वास्तविक रूप निर्धारित करने के प्रयत्न में, ऐसा कर दिया होगा। यों तो उपर्युक्त 'बारह पन्थों की साखी' के अन्त में यह भी दिखलाया गया है कि इसे 'सम्भुनाथ' ने गोरखनाथ से, गोरखनाथ ने 'सित्तिनाथ' से तथा उन सित्तिनाथ ने भी 'विरमा पख जी' से कहा था[२७] और, इस प्रकार वह अत्यन्त प्राचीन तक बन जाती है। वहां पर, १२ भिन्न-भिन्न पन्थों के अन्तर्गत, क्रमशः द्वादशपंथों के जोगियों की कतिपय विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु इस बात की ओर कोई भी संकेत किया गया नहीं पाया जाता जिसके आधार पर यह ज्ञात हो सके कि उनकी पद्धति का आरंभ कब एवं किस प्रकार हुआ होगा।

इन उपर्युक्त सूचियों पर विचार करते समय हमें ऐसा भी लगता है कि, यदि हम चाहें तो, इन्हें विभिन्न वर्गों में भी ला सकते हैं। उपर्युक्त 'साखी' वाली सूची के साथ हम 'सत्यनाथ तीर्थ' वाली सूची सं० ३ एवं २ को रख सकते हैं, पंजाब की जन-गणना रिपोर्ट (सन् १८९१

---

२७ 'श्री सम्भुनाथ जती गुरु गोरखनाथ जी का कथ सुणाया। श्रीगुरु गोरखनाथ श्री सित्तिनाथ जी कू कमी सुणाया सित्तिनाथजी विरमापख जी कथा सुणाया, विरपापख जी सध्या परभाते अनेक सिधों के आगे पढन्ते गुणते। सोछि मुक्ति मूल पावतें'—'प्राच्य भारती', पृ० ५४।

ई०) वाली सूची के साथ 'तहकीकाते चिश्ती', 'मारवाड़ की जन-गणना रिपोर्ट (सन् १८९८ ई०) तथा रोज़ वाली सूचियों को स्थान दे सकते हैं। इसी प्रकार क्रुक की उन तीन सूचियों पर भी एक साथ विचार कर सकते हैं जिनका उल्लेख उन्होंने अपने यहां 'जोगियों' आदि की चर्चा करते समय किया है। इसी नियमानुसार एक तीसरा वर्ग हम उस गोरखपुर वाले केन्द्र की सूची के आधार पर भी कल्पित कर सकते हैं जिसके नाम 'सत्यनाथ तीर्थ' की सं० ५ एवं ६ तथा डा० कल्याणी मल्लिक और डा० चन्दोला द्वारा दी गई सूचियों वाले ऐसे नामों से बहुत कुछ मिलते हैं और एक अन्य चौथे वर्ग का भी अस्तित्व उन सूचियों के आधार पर स्वीकार कर लिया जा सकता है जो प्रो० ब्रिग्स, डा० द्विवेदी और 'सत्यनाथ तीर्थ' की सूची सं० ४ तथा 'दबिस्ताने मज़ाहिब' के अनुसार दी जा चुकी है और जिनकी एक तुलना भी ऊपर कर दी गई है। इन चारों वर्गों की कुछ न कुछ अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताएं जान पड़ती हैं जो, उनमें आये हुए नामों के न्यूनाधिक साम्य तथा कभी-कभी उनके रूप एवं क्रमोल्लेख के विचार से भी, निश्चित की जा सकती हैं तथा जिनके आधार पर उनमें से किसी एक का दूसरे से कुछ पहले वा पीछे प्रारम्भ किया जाना अनुमान करने में हमें सहायता मिल सकती है। इसके सिवाय हम इसी के सहारे इन सूचियों वाले कुछ नामों के कभी-कभी क्रमशः लुप्त होते जाने अथवा अन्य रूपों में परिवर्तित होते जाने के विषय में भी अपनी एक धारणा बना ले सकते हैं। तदनुसार यह कह सकते हैं कि उनका क्रमविकास किस प्रकार सम्भव हुआ होगा। इतना तो निश्चित ही है कि ऐसी प्रासंगिक सूचियों वाले नामों तथा आधुनिक सूचियों में पाये जाने वालों में प्रत्यक्ष साम्य का पता लगाना अत्यन्त कठिन है और कम से कम, उनमें इनके समाविष्ट किये जाने का कालनिर्णय प्रायः असंभव सा भी है।

निष्कर्ष यह कि, यदि इन द्वादशपंथों की उपलब्ध सूचियों में 'बारहपंथी की साखी' वाली को सबसे पुरानी मान लें उस दशा में, हमें पता चलेगा कि जो वहां पर 'निरंजन जोगी' है वह आगे 'सत्यनाथ तीर्थ' वाली सूची में 'गम' वा 'गमी' का रूप धारण कर लेता है, किन्तु फिर इसके आगे उसका कहीं पता नहीं चलता तथा, इसी प्रकार, उसका 'चोली जोगी', भी 'सत्यनाथ-तीर्थ' की सूची सं० ३ तक ही रह जाता है। यही दशा क्रमशः 'वन जोगी' एवं 'दासजोगी' की भी है जो कम से कम अपने इन रूपों में कभी आगे नहीं दीख पड़ते। इसके विपरीत हमें पता चलता है कि उसका 'हेतपंथी' आगे चलकर 'नटेसरी', 'लक्ष्मण नाथी', 'दरियानाथी' तथा 'कनक नाथी' तक में अंशतः परिणत हो जाता है,[२८] 'पंख जोगी', उसी प्रकार 'सत्यनाथी'

२८. ब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ पृ० ६४।

एव 'धर्मनाथी' वन जाता है,२९ 'पावपथी', 'जालधरी' 'कानिपापथी' अथवा 'गोपीचद' की 'मृगनाथी' की स्थितियो में आ जाता है,३० 'रावल जोगी' के दो रूप क्रमश 'मादिया' और 'गल दीख पड़ते लगते है,३१ तथा 'आई जोगी' का भी एक विकसित रूप 'मस्तनाथी' हो जाता है, ? और जहाँ तक पता चलता है, उसके केवल 'धजनाथी जोगी' मे ही किसी प्रकार का परिवर्तन आना नहीं जान पडता। इसी प्रकार हम देखते है कि दूसरे वर्ग वाले 'अभगनाथ' 'दर्पनाथ' एव 'नीमनाथ' का भी कहीं अन्यत्र पता नहीं चलता तथा प्रथम वर्ग वाले नामों के परिवर्तित रूप इसकी प्राय सभी सूचियो मे लगभग एक समान ही आ जाते हैं। तृतीय एव चतुर्थ वर्ग की सूचियो वाले नामो मे अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता दीख पडती है और उनमे साम्य के उदाहरण भी अधिक ही मिलते हैं। इसके सिवाय 'कपिलानी पथ' सभवत, सर्व प्रथम, हमें तृतीय वर्ग वाली सूचियो में ही दीख पडता है तथा कदाचित् उसी की एक शाखा 'गगानाथी' का पता हमें इसके पहले से भी लगने लग जाता है।

इस सम्बन्ध में यहा पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि जो-जो नाम, पहले पहल, द्वादशपथों को दिये गये पाये जाते है उनमे से प्राय सभी हमें प्रतीकों जैसे लगते हैं जिसका कारण इसके आधार पर उनका भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा प्रवर्तित किया जाना भी स्पष्ट रूप में सिद्ध नहीं हो पाता और न हम यही कह सकते हैं कि ऐसे नामो के प्रयोग का उद्देश्य क्या रहा होगा। 'हेत', 'आई', 'पान', 'रावल', 'कथड', 'पागल', 'धज', 'चौली', 'वन', 'दास' और 'पख' इनमे से किसी को भी हम साधारणत, व्यक्ति वाचक अथवा सख्या वाचक सज्ञा के रूप मे भी प्रयुक्त नहीं पाते और 'निरजन' अथवा 'गम' भी हमे यहा पर लगभग उन्हीं के मेल में आ गया जान पडता है—क्योंकि 'निरजन' भी मूलत परमात्म तत्व को ही सूचित करता है। अतएव, इस प्रसङ्ग म, एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या ऐसे शब्दों का व्यवहार भी कहीं उसी प्रकार तो नहीं किया गया है जिस प्रकार 'दशनामी' कहे जाने वाले सन्यासियो के लिए कभी किया गया था। यदि ऐसी बात हो तो, क्या हम, इन दोनों म से किसी एक को दूसरे से प्रभावित होकर चलाये जाने का भी कोई अनुमान कर सकते हैं? दशनामियो वाली सूची के शब्दो का प्रयोग उनमें से किसी न किसी समुदाय विशेष को सूचित करने के

---

२९ वही पृ० ६३-४।

३० वही पृ० ६७ और ६७।

३१ वही पृ० ६६।

३२ वही पृ० ६८।

लिए ही किया जाता है। वह उसके अनुयायियों के नामों के अंत में जोड़ भी दिया जाता है जहां इस प्रकार के उदाहरण यहां पर बहुत कम, और कदाचित् 'आई' 'धज' तथा 'पंख' जैसे दो-चार से ही सम्बद्ध पाये जाते हैं। इसी प्रकार, उक्त प्रथम के अन्तर्गत जहां हम 'पुरी', 'भारती' एवं 'सरस्वती' जैसे तीन स्त्रीलिंग शब्द पाते हैं[३३] वहां द्वितीय में हमें केवल 'आई' एवं 'चोली' जैसे दो ऐसे शब्दों का ही समावेश किया गया जान पड़ता है, किंतु फिर भी दोनों का प्रायः एक समान होना भी स्पष्ट है।

दशनामियों के लिए कहा गया है कि उनकी ऐसी संस्था का प्रवर्तन स्वामी शंकराचार्य अथवा उनके द्वितीय उत्तराधिकारी सुरेश शंकराचार्य ने, अपने समय की प्रचलित संन्यासियों की उस परंपरा को एक सुव्यवस्थित रूप देने के उद्देश्य से किया था जो संभवतः वैदिक युग अथवा उसके पहले से ही चली आ रही थी और जिसका उस काल तक वैसा कोई केन्द्रीय संगठन भी नहीं था जिसका अनुशासन सर्वमान्य समझा जा सके।[३४] तदनुसार यह भी संभव है कि गुरु गोरखनाथ ने अथवा उनके किसी शिष्य-प्रशिष्य ने ही, कभी नाथ-योगी सम्प्रदाय वाले उक्त द्वादश पंथों को, उन योगियों एवं यतियों को एक सूत्र में संगठित करने के लिए स्थापित किया हो जो अत्यन्त प्राचीन काल से बिखरी दशा में रहते हुए, अपनी साधना करते आये थे तथा जिनकी कोई अपनी केन्द्रीय संस्था भी नही थी। ऐसे अनुमान के लिए हमें कुछ संकेत महानुभावीय ग्रन्थ 'मतिरत्नाकर' वाली उन 'बारापंथी जोगी' एवं 'अठरापंथ जती', नामक दो सूचियों से भी मिल सकता है जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है तथा यह गोरक्षटिल्ला वाली उस परम्परा से भी स्पष्ट हो जा सकता है जिसके अनुसार कुछ पंथों का शिव द्वारा तथा दूसरों का गुरु गोरखनाथ द्वारा पूर्व प्रवर्तित होना बतलाया गया है। इसमें कठिनाई केवल यही आ सकती है कि जो ३० नाम इस प्रकार दिये जाते हैं, उनमें, उपर्युक्त 'बारह पंथी' की 'साखी' वाले नामों के अतिरिक्त, अनेक ऐसे भी सम्मिलित कर लिये गये हैं जिन्हें अन्य वैसी सूचियों के द्वितीय, तृतीय जैसे वर्गों से ही सम्बद्ध मानकर, अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक भी ठहराया जा सकता है और जिनका, इसी कारण, उस प्रथम समझी जाने वाली सूची के निर्माण काल में भी विद्यमान रहना कभी संभव नहीं कहला सकता।

---

३३. दे० 'दशनामियों के १० नाम :—गिरि, पुरी, भारती, वन, आरण्य पर्वत, सागर, तीर्थ, आश्रम और सरस्वती (ए हिस्ट्री ऑफ दशनामी नागा संन्यासीज़, सर यदुनाथ सरकार : इलाहाबाद पृ० ५४)।

३४. वही पृ० ५०-५१।

दशनामियो के १० पृथक्-पृथक् समुदायो मे विभाजित होने पर भी उनके प्रमुख केन्द्रो की संख्या केवल चार समझी जाती है। उनके ये चारो केन्द्र भारत के चार प्रधान मठो के रूप मे अवस्थित चले आते है और ये क्रमश दक्षिण मे 'शृगेरी मठ' (रामेश्वरम), पूर्व मे 'गोवर्धन मठ' (जगन्नाथपुरी), उत्तर मे 'जोशी मठ' (बदरिकाश्रम) और पश्चिम मे 'शारदामठ' (द्वारका) कहलाकर प्रसिद्ध है। इसके सिवाय उक्त 'शृगेरीमठ' के अधिकार क्षेत्र में आन्ध्र, केरल, कर्णाटक, एव द्रविड प्रदेश माने गये है और उसमे दशनामियो में से उक्त 'पुरी', 'भारती' एव 'सरस्वती' सबद्ध समझे जाते है, 'गोवर्धनमठ' के अन्तर्गत अग, वग, कलिग एव मगध और उत्कल का समावेश किया जाता है और इसके साथ 'वन' एव 'अरण्य' नामक दशनामियो का सबध जुडा हुआ है, 'जोशी मठ' का क्षेत्र कुरु पाचाल, कश्मीर, कम्बोज, एव तिब्बतादि तक विस्तृत है और इसमे दशनामियो के 'पर्वत', 'गिरि' एव 'सागर' आ जाते है। इसी प्रकार 'शारदामठ' का भी अधिकार-क्षेत्र सिन्धु, सौवीर सौराष्ट्र एव महाराष्ट्र, तक चला जाता है और इसके भीतर दशनामियो के शेष अग 'तीर्थ' एव 'आश्रम' की गणना की जाती है। परन्तु द्वादश पथो का ऐसा कोई स्पष्ट सगठन नही दीखता। श्री गोरक्षनाथ जी के भारत में चार प्रधान मठ, उत्तर मे गोरक्ष-टिल्ला, पूर्व मे गोरखपुर, दक्षिण म कदलीवन, बगलोर एव पश्चिम में गोरखमण्डी[२५] जैसे चार प्रमुख मठ अवश्य बतलाये जाते हैं। किन्तु इनका वैसा कोई निश्चित विवरण उपलब्ध नहीं है। इस विषय मे यह भी प्रसिद्ध है कि द्वादशपथों मे से 'हेत पथ' का प्रधान केन्द्र गोरक्षटिल्ला जि० झेलम, पजाब, 'आई पथ का गोरखकुई जि० दिनाजपुर, बगाल एव हरिद्वार (उ० प्र०) 'पावपथ' का जयपुर (राजस्थान), 'रावल' का रावलपिंडी (पाकिस्तान) 'धजनाथ' का अम्बाला पजाब, एव सीलोन लका, 'पख का सत्यनाथी' केन्द्र पाताल भुवनेश्वर उत्कल प्रांत और 'धर्मनाथी' केन्द्र गोदावरी तट एव दुल्लु नेपाल, 'दासजोगी, जोधपुर राजस्थान, 'कपिलानी' का गगासागर बगाल एव 'गगानाथी' का गुरदासपुर पजाब, 'कथडनाथी' का मानफर कच्छ प्रदेश, 'वैरागनाथी' का उज्जैन (म० प्र०) तथा 'रतननाथी' का पेशावर (पाकिस्तान) और 'वनपथी' का मारवाड प्रदेश (राजस्थान) माने जाते है, किन्तु 'निरजन जोगी' अथवा गम के लिए कदाचित कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं है। इसके सिवाय इन बारहो पथो का केन्द्रीय व्यापक प्रबन्ध किसी 'भेक बारह पथ' नामक सस्था के द्वारा चालित हुआ करता है जिसका प्रधान केन्द्र हरिद्वार मे वर्तमान है तथा जिसकी 'प्रबध-समिति' के सदस्य वहा के कुभ मेले के अवसर पर बारह वर्षों पर, द्वादशपथों में से चुनकर, ले लिये जाते है तथा इस सस्था का अध्यक्ष 'महथ', प्रत्येक पथ

---

२५ 'सिद्धनाथ-सहिता' विवेकसागर, पृ० ३३० ।

की ओर से वारी-बारी से नियुक्त किया जाता है जो बारह वर्षों तक रहता है और उसे १२सौ रुपये भी देने पड़ते हैं। ऐसी विधि सम्पन्न हो जाने पर वह 'जोगीश्वर' के नाम से अभिहित किया जाने लगता है। इस प्रकार 'दशनामी' एवं 'द्वादशपंथ' इन दोनों का ही प्रभाव क्षेत्र अखिल भारतीय भी कहा जा सकता है तथा इनकी प्रबन्ध-पद्धतियों में कुछ न कुछ अंतर के रहने पर भी, इनके व्यापक उद्देश्य के एक समान होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

'नाथयोगी' सम्प्रदाय के अन्तर्गत केवल बारह पंथों की ही स्थापना क्यों की गई और उनकी संख्या इससे कम वा अधिक क्यों नहीं हुई, इस प्रश्न का कोई समुचित वा प्रामाणिक उत्तर दिया गया अभी तक नहीं जान पड़ता। प्रो० ब्रिग्स का उपर्युक्त कथन कि 'गोरखटिल्ला' वाली परम्परा के अनुसार, संभवतः गुरु गोरखनाथ ने अपने समय के प्रचलित १८ शैव सम्प्रदायों में से ६ को तथा स्वयं अपने वाले १२ योगी सम्प्रदायों में से भी, उसी प्रकार ६ को चुन कर उन्हें कायम रहने दिया होगा और शेष का विघटन कर दिया होगा, ठीक नहीं जान पड़ता और न उसके इस अनुमान की ही पुष्टि होती दीखती है कि ऐसे ३० पंथों में से पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप केवल १२ बच रहे होंगे और शेष नष्ट हो गये होंगे। प्रथम धारणा के अनुसार उक्त विघटन होने के पहले ३० विभिन्न वर्गों का बहुत पूर्व से प्रचलित होता आना अपेक्षित है तथा ठीक उसी प्रकार की बात, उनके परस्पर लड़ने-भिड़ने और इसके कारण उनमें से १८ के नष्ट हो जाने के सम्बन्ध में भी, कहीं जा सकती है। जब तक ऐसे किसी दीर्घकाल की कल्पना न कर ली जाय तथा उतने समय तक उनमें से कम से कम द्वितीय १२ के प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ के जीवित रहने की संभावना में विश्वास भी न हो तब तक इस विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता, किन्हीं ३० प्रचलित सम्प्रदायों में से केवल १२ मात्र के शेष रह जाने और १८ के लुप्त हो जाने का अनुमान, उपर्युक्त योगियों एवं यतियों के क्रमशः १२ एवं १८ पंथों वाली सूचियों के आधार पर भी किया जा सकता है, किन्तु वैसा करना भी हमें पूर्णरूप से तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता और न यह कभी संभव सा ही लगता है जिस कारण इसके द्वारा हमें कोई सहायता नहीं मिलती। वास्तव में इन दोनों में से किसी की भी गुरु गोरखनाथ के जीवनकाल के साथ संगति बैठती नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार यदि इन द्वादश पंथों को गुरु गोरखनाथ के किन्हीं १२ शिष्यों द्वारा प्रवर्तित किया जाना मान लें उस दशा में भी, इसका निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया जाना संभव न होगा, न तो इस सम्बन्ध में हमारे सामने वैसे १२ गोरख शिष्यों की कोई सूची प्रस्तुत की जाती है और न इस बात का ही कोई समुचित कारण बतलाया जाता है कि इन १२ पंथों में से केवल कुछ के नाम तक

भी उन लोगों के साथ क्यों सम्बद्ध है जिनका गोरख-शिष्य होना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सकता और जो, इसके साथ ही, उनके पूर्ववर्ती, परवर्ती अथवा उनसे भिन्न समसामयिक मात्र माने जाते हैं तथा इसी कारण ऐसी बातें संदिग्ध भी बन जाती हैं।

अतएव, यह अधिक संभव है कि 'द्वादशपंथ' में सम्मिलित की जाने वाली सभी संस्थाओं की स्थापना एक ही समय में नहीं हुई हो और न इनमें से सभी के संस्थापक अकेले गुरु गोरखनाथ वा उनके कोई वैसे १२ शिष्य ही रहे हों, जिन्होंने अपनी अपनी ओर से इनका प्रवर्तन कर दिया हो। हो सकता है कि इनमें से कुछ अधिक प्राचीन रही हों और कुछ दूसरी उनसे अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन सिद्ध की जा सकें और इसी कारण प्रथम वाली गुरु गोरखनाथ के किन्हीं 'पूर्ववर्ती' योगियों द्वारा भी प्रवर्तित की गई हो सकती हैं, जहां द्वितीय के लिए यह कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ को उनके समकालीन तथा शेष अन्य को उनके किन्हीं परवर्ती योगियों ने चलाया होगा और सभी ने इन्हें अपने अपने ढंग से नाम भी दे दिये होंगे। इस प्रकार वैसी दशामें, इन द्वादशपंथों के क्रमशः किसी अवधि के भीतर अस्तित्व में आते जाने का अनुमान भी किया जा सकता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ये 'द्वादश पंथों' के रूप में कभी पीछे स्वीकृत किये गये होंगे। इनका भिन्न भिन्न १२ पंथों की दशा में एक ही समय चलाया जाना तथा ऐसा गुरु गोरखनाथ के ही द्वारा किया जाना अनिवार्य नहीं जान पड़ता और न हमारा यह मान लेना ही समीचीन ठहरता है कि इस कार्य को उनके अमुक-अमुक शिष्यों ने एक साथ मिल कर किया होगा जब तक हमें इसके आधार स्वरूप कोई स्पष्ट एवं विश्वसनीय प्रमाण भी न मिल जाय और वह तर्क-संगत भी सिद्ध हो सके। अभी तक, उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि द्वादशपंथों की कल्पना संभवतः 'नाथ-योगी' सम्प्रदाय के प्रवर्तित होने के कुछ काल पीछे की ही ठहरती है और यह किन्हीं पूर्व प्रचलित संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से, की गई होगी तथा उसे साकारता भी प्रदान कर दी गई होगी। इन्हें किस आदर्श के अनुसार स्वीकार किया गया होगा तथा इनकी संख्या केवल १२ तक ही सीमित क्यों रखी गई होगी, इसका पता नहीं। जहाँ तक समझ पड़ता है, इस प्रकार की धारणा नाथपंथियों में बहुत दिनों से बद्धमूल बनी रहती आई है और इसकी प्रत्येक शाखा अथवा उपशाखा ने अपने को किसी न किसी द्वादशपंथी संस्था के साथ संबद्ध बतलाने की भी चेष्टा की है, जिस कारण, इनकी संख्या में कभी कभी वृद्धि जान पड़ने अथवा इनके नामादि में न्यूनाधिक परिवर्तन प्रतीत होते रहने को भी, उनके द्वारा किसी समय वैसा महत्व नहीं दिया जा सका है।

चतुर्दण्डीप्रकाशिका

विद्याधर व्यंकटेश वझलवार

प्रचलित कर्नाटकी संगीत के आधार ग्रंथों में यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। शास्त्रज्ञ, साहित्यकार, विद्वान तथा वीणावादक पं० वेंकटमखि इस ग्रंथ के लेखक थे। उनका पूरा नाम वेंकटेश्वर दीक्षित था। वे दक्षिण भारत में तंजावर नगरी के निवासी थे। उनका जीवन-काल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर सतरहवीं शताब्दी के तीन-चतुर्थांश के अंतर्गत माना जाता है।

ग्रंथ के प्रकरणों के अंत में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है उससे यह जानकारी प्राप्त होती है। पं० वेंकटमखि ने दीक्षित वंश में जन्म ग्रहण किया था। उनके पिता का नाम गोविंद दीक्षित और माता का नाम नागमाम्बिका (नागम्मा नाम का संस्कृत रूप) था। गोविंद दीक्षित अत्यंत विद्वान, अद्वैत वेदान्त के प्रगाढ़ पंडित, राजकार्य में पटु, तथा संगीत शास्त्र तथा कला के शिरोमणि थे, यह इतिहास सिद्ध सत्य है। वे चिन्नाचेव्हा, अच्युत तथा रघुनाथ तंजावर के तीन नृपतियों के लगातार महामन्त्री रह चुके थे। पं० वेंकटमखि ने उनको 'श्रीमद्वैतविद्याचार्य' उपाधि से विभूषित किया है। दक्षिण भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र में उनके द्वारा रचित 'साहित्य सुधा' और 'संगीत सुधा निधि' दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। वे अग्निहोत्री थे तथा साग्निचित्य, सर्वतोमुख, अतिरात्र-साग्निचित्य, आप्तवाजपेय इत्यादि प्रकार के याग-यज्ञ कार्य में प्रवीण थे।

पं० वेंकटमखि अपने मातापिता के द्वितीय पुत्र थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्री यज्ञनारायण दीक्षित था। यज्ञनारायण अपने पिता गोविन्द दीक्षित के योग्य पुत्र थे। वे भी यागयज्ञ कार्य में निपुण होते हुए कवि तथा इतिहासकार थे। 'साहित्य-रत्नाकर' और 'रघुनाथ विलास' संस्कृत भाषा में उनके द्वारा रचित दो ग्रंथ इसके साक्षी हैं। 'साहित्य रत्नाकर' ग्रंथ में तंजावर के राजा स्वनामधन्य रघुनाथ के राजशासन का इतिहास मिलता है। तद्वत् 'रघुनाथ विलास' पांच अंकों का राजा रघुनाथ के जीवन वृत्तांत पर आधारित एक नाटक है। 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका' की रचना के समय तंजावर की राजगद्दी पर राजा अच्युतविजय राघव आसीन थे। उन्हीं की प्रेरणा से यह ग्रंथ लिखा गया था।

चतुर्दण्डीप्रकाशिका के लेखनकाल के संबंध में पंडितों के भिन्न-भिन्न मत देखे जाते हैं। मद्रपुरी संगीत विद्वत्सभा द्वारा प्रकाशित इस ग्रंथ के संस्करण की प्रस्तावना में कहा गया है कि

यह ग्रंथ सन् १६२० ई० के लगभग लिखा गया था। 'ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे अव् द म्यूज़िक अव् अपर इण्डिया' (सन् १९१६ ई०) में दिये हुए एक वक्तव्य में प० भातखडे कहते हैं कि इस ग्रंथ का लेखन काल सन् १६६० ई० है। श्री० ओ० गोस्वामी अपने 'थ्योरी अव् इण्डियन म्यूज़िक, इट्स ग्रोथ एण्ड सियेसिस' ग्रंथ में पृष्ठ २५ पर वही सन् १६२० ई० बतलाते हैं। डा० विमल राय ने 'भारतीय संगीन प्रसंग' नामक बंगला ग्रंथ में पृष्ठ १६१ पर प० वेंकटमखि का जीवन वृत्तान्त देते हुए चतुर्दण्डीप्रकाशिका का लेखन काल सन् १६३० ई० अनुमित किया है। परंतु इनमें से किसी ने भी अपने कथन का आधार नहीं बतलाया है। दुर्भाग्य से प० वेंकटमखि ने मनूवे ग्रंथ में कहीं भी इस संबंध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में उनके द्वारा दिये हुए अपने परिचय में 'अच्युतविजय राघव भूपालप्रेरितस्य वेंकटेश्वरदीक्षितस्य कृतौ 'चतुर्दण्डीप्रकाशिकायां' यह वाक्यांश आता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अच्युतविजयराघव नृपति के शासन काल में यह ग्रंथ लिखा गया था। इनका राज्यकाल सन् १६२६ से १६६२ ई० तक ठहरता है। दीवानबहादुर डॉ० एस्० कृष्णस्वामी अयंगार द्वारा लिखित 'एन्शेंट इण्डिया एण्ड साउथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' के द्वितीय खंड के पृष्ठ २९७ पर कहा गया है 'आइसलैण्ड के यात्री प्लाफसोन्स के अनुसार रघुनाथ की मृत्यु सन् १६२६ ई० में हुई और उसके बाद उसका पुत्र विजयराघव गद्दी पर बैठा।' श्री सीतापति तेलुगु साहित्य के इतिहास में विजयराघव के शासन काल का आरंभ सन् १६३३ ई० बताते हैं। (भारतीय साहित्य-संपा० डा० नगेन्द्र १९५९) इन कथनों के अनुसार चतुर्दण्डीप्रकाशिका का लेखन काल सन् १६२६ ई० के पश्चात् ही हो सकता है, पहले नहीं। अब यदि सन् १६३० ई० और १६६० ई० की संभावना के संबंध में विचार किया जाय तो विजयराघव के राज्यकाल की समाप्ति देखना जरूरी है। 'द इम्पीरियल गजेटियर अफ इण्डिया जिल्द २३, सिंहभूम से त्राशीन्छोद—जोंग' तक में पृष्ठ २२८ पर जो वर्णन किया गया है, उससे यह जानकारी प्राप्त होती है कि तंजावर के नायक राजवंश के अंतिम नृपति के राज्यकाल में मदुरा के नायक राजा चोक्कनाथ ने तंजावर पर सन् १६६२ ई० में आक्रमण किया था और उस युद्ध में तंजावर के राजा तथा उनके पुत्र घमासान लडाई में मारे गये थे। राजप्रासाद बारूद से उडा दिया गया था और प्रासादस्थ स्त्रियों ने आत्महत्या कर ली थी। केवल एक चार वर्ष का राजपुत्र राजधानी से बाहर भेजकर बचा लिया गया था। यह राजपुत्र आगे चलकर बीजापुर के मुसलमान सुल्तान की सहायता से फिर तंजावर की राजगद्दी पर आसीन हुआ। परंतु सन् १६७४ ई० के लगभग व्यकोजी भोंसले ने उसको भी हटाकर तंजावर पर भोंसलों का शासन

स्थापित किया। इस वृत्तांत में स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया है कि जो सन् १६६२ ई० में मारा गया था, वह विजयराघव ही था। इस कारण विजयराघव का शासन काल सन् १६६२ ई० तक ही था, ऐसा कहना असंदिग्ध नहीं है। श्री सीतापति ने इसका राज्य-काल सन् १६३३ से १६७३ ई० तक बताया है। इससे संदेह और भी दृढ़ होता है। सन् १६७३ ई० को विजयराघव के शासन का आखरी वर्ष स्वीकार करने से चतुर्वर्षीय राजपुत्र के तंजावर के राजपद पर आसीन होने को घटना के लिये स्थान नहीं रहता। भाग्य से 'तंजावुरि आन्ध्र राजुल चरित्र' शीर्षक की स्थानीय तेलुगु भाषा में लिखित एक गद्य रचना से इस संदेह का निराकरण हो जाता है। यह तेलुगु गद्य रचना मैकेंजी संग्रह में संकलित हस्तलिखित ग्रंथों में से एक है, ऐसा अनुमान निम्नोक्त ग्रंथकार ने किया है। श्री एस्० कृष्णस्वामी अयंगार द्वारा संकलित तथा संपादित 'सोर्सेज़ अफ् विजयनगर हिस्ट्री' नामक ग्रंथ में मूल तेलुगु पाठ से तथा पृष्ठ ३२४-३२५ पर दिये हुए अंग्रेजी विवरण से स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि चोक्कनाथ के साथ लड़ाई करते हुए जो मारे गए, वह विजयराघव ही थे। अतएव विजयराघव का शासन काल सन् १६२६ से १६६२ ई० तक था, यह भली-भांति ठहरता है। तद्वत् चतुर्दण्डीप्रकाशिका का रचना काल इसी काल-खंड में अन्तर्निहित है यह भी स्पष्ट होता है।

पं० वेंकटमखि द्वारा रचित ग्रंथ में तीन का उल्लेख स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ये हैं (१) चतुर्दण्डीप्रकाशिका (२) रागलक्षण (३) साहित्यसाम्राज्ञ। इनमें से अंतिम ग्रंथ अप्राप्य हो गया है। पहले दो प्राप्त हैं। 'रागलक्षण' ग्रंथ में उनके समय में प्रचलित रागों के लक्षण संस्कृत श्लोकों के माध्यम से दिए गए है। पं० वेंकटमखि ने रागों के लक्षण गीतों के माध्यम से समझाने का उपक्रम भी किया है। ये गीत 'लक्षणगीत' नाम से प्रसिद्ध हैं।

राग-विभाजन के लिये संगीतसप्तकान्तर्गत वारह स्वरों में से गणित सिद्धांत से बहत्तर मेलों की रचना संगीत साहित्य के लिए पं० वेंकटमखि की सबसे मूल्यवान देन मानी जाती है। इस मेल रचना की तथा प्रत्येक मेल युक्त रागों की विवेचना उन्होंने अपने 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका' ग्रंथ में मुख्य रूप से की है।

वास्तव में प्रचलित रागों को विभिन्न मेलों में विभाजित करने की प्रथा दक्षिण भारत में यह ग्रंथ लिखे जाने के पूर्व से ही चालू थी। इस प्रथा के प्रवर्तक विजयनगर राज्य के मंत्री विद्यारण्य पंडित (माधवाचार्य) माने जाते हैं। आसपास के अंचलों में प्रचलित पचास रागों के शुद्ध विकृत स्वरों की जांच करके उनके समूह सामंजस्य के अनुसार रागों को पंद्रह

मेलों में बाट दिया गया था। उनके पश्चात् वहीं के सेनापति तथा राजप्रतिनिधि रामरायर की आज्ञा से १५६५ सन् ई० मे प० रामामात्य ने अपने 'स्वरमेलकलानिधि' ग्रथ में १९ मेलों मे ६४ रागो का विभाजन प्रकाशित किया। तत्पश्चात् सन् १६०५ ई० मे आन्ध्र देश के प० सोमनाथ ने 'राग-विबोध' ग्रथ मे ७८ रागों का विभाजन २३ मेलों मे सपन्न किया। यह सब मेल केवल खोज-खोज करके एकत्रित किये गए रागोंके स्वरों की छानबीन तथा जाँच पड़ताल करके ही बनाये गये थे। इन मेल रचनाओं की पीठिका मे शास्त्रीय सिद्धांत जैसी कोई भी चीज नहीं थी। ठोस शास्त्रीय सिद्धांत पर आधारित मेल रचना का सर्वप्रथम आविष्कार करने का श्रेय प० वेंकटमखि को ही है। इस विषय मे मद्रपुरी सगीत विद्वत्सभा द्वारा प्रकाशित 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' के सस्करण की प्रस्तावना में कहा गया है 'किन्तु उनका विभाजन प्रयोग पर आधारित है किसी सिद्धान्त पर नहीं। इसका श्रेय वेंकटमखि को ही है कि उन्होंने सबसे पहले वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार किया।'

यह ग्रथ दक्षिण भारतीय सगीत में अत्यत महत्वपूर्ण माना जाता है इसके और भी कुछ कारण हैं। प० वेंकटमखि के परवर्ती सगीत साहित्यकारो ने तथा वाग्गेयकारो ने चतुर्दण्डी प्रकाशिका का बड़े विश्वास तथा श्रद्धा से अनुसरण किया है। इस ग्रथ के लेखन के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् सन् १७३५ ई० में तजावर के राजा तुलजाधिपति ने 'सगीनसारामृत' ग्रथ चतुर्दण्डीप्रकाशिका के ही आधार पर लिखा था। मेलो की सख्या कितनी होनी चाहिये इस विषय को लेकर जो मतमतान्तर वादविवाद, और टीका-टिप्पणियाँ करीब करीब डेढ़ दो सौ वर्षो से चल रही थीं, वे सब शास्त्रीय सिद्धात के आधार पर बनाये गये बहत्तर मेलों के आगमन से बद हो गई। जिसके आधार पर आख मूद कर परवर्ती सगीत अग्रसर हो सके, ऐसी एक चीज सगीत के साहित्यकार तथा कलाकारों को प्राप्त हुई। कुछ विशिष्ट नियमो को मानते हुए सप्तकान्तर्गत द्वादश स्वरो मे केवल बहत्तर ही मेल उत्पन्न किये जा सकते हैं, इससे कम या अधिक नहीं। ग्रथकार ने इस बात का इतने शक्तिशाली तथा आत्म-विश्वासपूर्ण ढग से प्रतिपादन किया कि उनके अनुयायी भी बड़े आत्मविश्वास के साथ आगे बढ सकें। प० वेंकटमखि तो यहा तक मानते हैं कि साक्षात् शिव भी इससे भिन्न कल्पना नहीं कर सकते। यथा —

> यदि कश्चिन्मदुन्नीतमेलेभ्यस्तद् द्विसप्तते ।
> न्यून वाप्यधिक चाऽपि प्रसिद्धैर्द्वादशस्वरै ।
> कल्पयेन्मेलन तर्हि ममायासो वृथा भवेत्।
> न हि तत्कल्पने भाललोचनोऽपि प्रगल्भते ॥

(च० प्र० मेल प्र० श्लोक ८९, ९०, ९१)

वास्तव में इस ग्रंथ की रचना के समय इन ७२ मेलों में केवल १९ ही मेल ऐसे थे जो कि इस समय प्रचलित रागों को विभाजित करने के लिये पर्याप्त थे। तथापि भविष्य में प्राप्त होनेवाले रागों के वर्गीकरण की सुविधा तथा नये रागों की सृष्टि के लिये मार्ग-दर्शन की दृष्टि से अत्यंत काम के साबित होंगे इस विश्वास से मैंने यह प्रपंच बनाया है ऐसा कथन स्वयं ग्रंथकार वेंकटमखि ने ही किया है। यह कथन च० प्रकाशिका के मेल प्रकरण के ८० से ८६ तक के श्लोकों में समाविष्ट है। इस प्रकार बहत्तर मेलों की यथार्थता के संबंध में भी शंका उपस्थित होने की संभावना नहीं रही। वेंकटमखि के ही द्वारा आविष्कृत 'सिंहरव' राग उनके कथन की पुष्टि करता है।

तंजावर के राजा तुलजाधिपति के कुछ ही काल पश्चात् दक्षिण भारतीय संगीताकाश में तीन देदीप्यमान तारे जगमगा उठे। वे थे, महावाग्गेयकार त्यागराज, मुथ्थुस्वामी दीक्षितर्, और शामशास्त्री। विशेषतः त्यागराज और मुथ्थुस्वामि ने ऐसे कई रागों में गीत रचना की जिनकी उत्पत्ति ऐसे मेलों से ही संभव थी जो कि उस समय प्रचलन में नहीं थे परंतु वेंकटमखि के बहत्तर मेलों में पाये जाते थे। इस प्रकार नये मधुर राग तैयार करने के लिये मेलों के रूप में बने बनाये सप्तस्वरी ढांचे कल्पक तथा बुद्धिमान गायक वादकों के हाथ लगे। इस तरह यह ग्रंथ और उसमें प्रतिपादित द्विसप्तति मेल परवर्ती पोढ़ियों के लिये अत्यंत आवश्यक हो गये। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में कहा गया है कि 'वेंकटमखि आधुनिक कर्नाटक-संगीत के पाणिनि हैं तथा उनकी चतुर्दण्डीप्रकाशिका उस संगीत के प्रत्येक अनुरागी के लिए अपरिहार्य है।'

चतुर्दण्डीप्रकाशिका उत्तर भारतीय संगीत के लिये भी महत्वपूर्ण ग्रंथ हो गया है। स्व० पं० भातखंडेजी ने उत्तर भारतीय संगीत के प्रचलित रागों के युक्तिसंगत विभाजन के लिये इसी व्यवस्था को ग्रहण करते हुए पं० वेंकटमखि के चतुर्दण्डीप्रकाशिका ग्रंथ का ही आधार-स्वरूप उल्लेख किया है। अंतर इतना ही है कि पं० वेंकटमखि ने अपने समय में प्रचलित तथा भविष्य में आनेवाले रागों के लिये बहत्तर मेलों की आवश्यकता अनुभव की और हिन्दुस्थानी संगीत की राग रचना को देखते हुए भातखंडेजी ने उनमें से केवल दस ही मेलों को चुन लिया। इस प्रकार हिन्दुस्थानी संगीत का 'जन्य-जनक राग' अर्थात् 'ठाठ व तज्जन्य राग' वर्गीकरण व्यवस्था के विषय में पं० वेंकटमखि और उनकी 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका' का उल्लेख करना अनिवार्य हो गया है।

अतएव इस महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ के विषय-वस्तु के संबंध में जानकारी प्राप्त करना सभी संगीतज्ञों के लिए आवश्यक है।

सर्वप्रथम यह देखा जाय कि इस ग्रंथ के शीर्षक 'चतुर्दण्डीप्रकाशिका' का क्या अर्थ है। यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें चतुर्दण्डी का प्रकाशन किया है, अतएव यह नाम सार्थक है। परंतु 'चतुर्दण्डी' का अर्थ क्या है यह जानने की आवश्यकता रह जाती है। श्री० के० वासुदेव अपने 'संगीतशास्त्र' ग्रंथ में बतलाते हैं कि चतुर्दण्डी का अर्थ है संगीतकला को वश में करने के चार उपाय। राग का स्वरूप व्यक्त करने के लिये विभिन्न प्रकार से गायन-वादन करने की प्रथा बहुत प्राचीन है। संगीत रत्नाकर के काल (१३ वीं शताब्दि) में जो गेय साहित्य प्रचार में था, उसको प्रकृति भिन्नता के अनुसार सर्वप्रथम नायक गोपाल ने चार भागों में विभक्त किया (१) आलाप (२) ठाय (३) गीत (४) प्रबंध, ये चार श्रेणियाँ हैं। इन्हीं को चतुर्दण्डी नाम से संबोधित किया जाता है। चतुर्दण्डीप्रकाशिका ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है। परंतु यह सब राग गायन से संबद्ध होने के कारण राग की, राग मेल से संपर्कित होने के कारण मेलों की, मेल स्वरों से संपर्कित है, इसलिये स्वर की तथा स्वर श्रुति से जडित होने के कारण श्रुति की चर्चा करना ग्रंथकार ने अनिवार्य समझा है। उस काल में श्रुति, स्वरों की सिद्धि वीणा वाद्य के साहाय्य से की जाती थी। इस कारण पं० वेंकटमखि ने सर्वप्रथम वीणा के संबंध में विस्तृत चर्चा की है।

प्रस्तुत ग्रंथ दस प्रकरणों में विभाजित हुआ है। यथा (१) वीणा प्रकरण (२) श्रुति प्रकरण (३) स्वर प्रकरण (४) मेल प्रकरण (५) राग प्रकरण (६) आलाप प्रकरण (७) ठाय प्रकरण (८) गीत प्रकरण (९) प्रबंध प्रकरण (१०) ताल प्रकरण। परंतु ताल प्रकरण उपलब्ध न होने के कारण मुद्रित संस्करण में केवल प्रथम नौ ही प्रकरण हैं।

प्रथम वीणा प्रकरण में पं० वेंकटमखि ने वीणा के मुख्य तीन प्रकार बताये हैं शुद्ध मेल वीणा, मध्य मेल वीणा, रघुनाथेन्द्र मेल वीणा।

यह एक स्वतंत्र और महत्वपूर्ण विषय है। इसकी विस्तृत चर्चा की अपेक्षा है।

श्रीहर्ष का समय

गजानन शास्त्री मुसलगांवकर

महाकवि श्रीहर्ष संस्कृत साहित्य के गौरव स्वरूप हैं। उन्होंने 'नैषधीयचरित' महाकाव्य और 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। उन रचनाओं का आलोचन हमारे प्रस्तुत लेख का विषय नही है। इस लेख में हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय और पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानों ने श्रीहर्ष का जो समय (१३ वीं शती) निश्चित किया है, उसमें अनेक भ्रान्त धारणाएँ कारण हैं। वस्तुतः श्रीहर्ष का समय नवम और दशम शताब्दी का मध्यकाल ही हो सकता है।

पहिले हम उन युक्तियों का पर्यालोचन करें जिनके आधार पर म० म० शिवदत्त शास्त्री, डा० ब्यूलर, श्री बाबूराम सेन, सीताराम जयराम जोशी, पं० बलदेव उपाध्याय, श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय और श्री भोलानाथ प्रभृति विद्वानों ने श्रीहर्ष का समय तेरहवीं शताब्दी सिद्ध किया है।

नैषध के समाप्ति श्लोक से यह स्पष्ट है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर के आश्रित थे। कान्यकुब्ज के राजा जयन्तचन्द्र—जिन्हें इतिहास में जयचन्द कहा जाता है, का सयय ईस्वी सन् ११९७ (विक्रम संवत् १२४३) है, ऐसा उनके एक दानपत्र से ज्ञात होता है। यह प्रतापी नरेश वाराणसी के भी अधिपति थे। जब जयचन्द या जयन्तचन्द्र का समय १२वीं शती निश्चित हो गया तो नैषध महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष का भी वही समय निश्चित है। इसीलिए जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के वर्णन में भी 'विजय प्रशस्ति' और 'गौडोर्वीश-कुलप्रशस्ति' नामक काव्यों की भी श्रीहर्ष ने रचना की थी, यह बात उनके पद्यांशों से प्रकट होती है। उस समय 'गौडोर्वीश कुलप्रदीप' इस उच्च-उपाधि के योग्य और कोई राजा नहीं था फलतः यह वर्णन जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र का ही था।

राजशेखर ने (ई० १३४८) स्वरचित प्रबन्धकोष में भी श्रीहर्ष को जयन्तचन्द्र की सभा का सभासद लिखा है, इससे भी इनका १२ वीं शती के अन्तिम भाग में होना प्रमाणित होता है।

१२९६ ई० (वि० १३५३) में अहमदाबाद के समीप ढोलका ग्राम के निवासी चण्डु पण्डित ने नैषधीयचरित महाकाव्य की व्याख्या लिखी। उनका एक पद्य है—

श्री विक्रमार्क समयाच्छतरदामथ त्रिपंचाशाता समधिकेष्वितेषु
तेषुत्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्लपक्षे त्रयोदशतिथौ रविवासरे च ॥

चण्डु पण्डित ने नैषध काव्य को नवीन काव्य बतलाया है।

> श्रीमानाल्गि-पण्डित-स्वसमयाविर्भूतसर्वाश्रम-
> स्चाण्डूपण्डित सहित प्रमुपुवे श्रीगौरिदेवी च यम्।
> बुद्ध्वा श्री मुनिदेवसञ्ज्ञविबुधात्काव्यं नव नैषध
> द्वाविंशे च स वर्णमे वितरण सर्गे च चक्रे क्रमात्॥

चण्डु पण्डित के कथन से ही यह भी मालूम होता है कि उनके समय में विद्याधर की लिखी हुई नैषध पर केवल एक ही टीका थी।

> टीकां यद्यपि सोपपत्तिरचना विद्याधरो निर्ममे
> श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गम्भीरतां भारती।
> दिक्कूलङ्कषना गतैर्जलधरैरुद्गृह्यमाण मुहु
> पारावारमपारमु किमिह स्याज्जानुदघ्न क्वचित्॥

इन सब प्रमाणों से उपर्युक्त विद्वानों ने नैषध महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध स्वीकार किया है परन्तु उपर्युक्त प्रमाणों की दृढ़ता के अभाव में हमें श्रीहर्ष के स्थितिकाल के विषय में यह मत ग्राह्य नहीं।

श्रीहर्ष के सर्ग समाप्ति पद्य में केवल कान्यकुब्जेश्वर का उल्लेख है, जयन्तचन्द्र आदि किसी विशेष राजा का नहीं। कान्यकुब्जेश्वर जैसे जयन्तचन्द्र थे वैसे उनके पिता विजयचन्द्र और उनके पिता गोविन्दचन्द्र तथा उनके पूर्वज भी थे।

राजशेखर का कथन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता अन्यथा भोज की सभा में कालिदास का होना भी मानना पड़ेगा। 'गौडोर्वीश कुलप्रदीप' यह किसी खास राजा की अपनी उपाधि तो है नहीं। यह विशेषण जैसे जयचन्द्र के साथ जुड़ता है, वैसे उसके पिता के साथ भी। श्रीहर्ष ने लिखा है कि उन्होंने 'विजयप्रशस्ति' नाम का काव्य बनाया। व्यवहार वेत्ताओं से यह बात छिपी नहीं है कि जो कवि जिसके आश्रित होगा उसी की प्रशंसा में काव्य रचना करेगा। अत इस काव्य रचना से श्रीहर्ष का जयचन्द की सभा में होना सिद्ध नहीं होता, अपितु उनका विजयचन्द्र का समकालीन होना सिद्ध होता है।

चण्डु पण्डित के उद्धरण में 'नव' शब्द से उस काव्य की निर्मिति में नवीनता का तात्पर्य निकालना ठीक नहीं। अपूर्व वस्तु को भी नवीन शब्द से कहने की रीति विद्वत्समाज में सुविदित है। चण्डु पण्डित ने इस रचना को इसीलिए नवीन कहा है कि पांच प्रसिद्ध काव्यों (रघुवंश, किरात, कुमार, शिशुपाल, नैषध) में से कल्पना शक्ति में नैषध ही सबसे ऊंचा है। ऐसे अनेक उद्धरण श्रीहर्ष की लेखनी से ही उद्धृत किये जा सकते हैं जहां उन्होंने अपनी

कल्पनाओं को नवीन कहा है। अतः चण्डु पण्डित का आशय भी इस काव्य की अपूर्णता बतलाने में ही है, उसे अभिनव रचना बतलाने में नहीं। चण्डु पण्डित का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि उनके समय तक नैषध पर केवल विद्याधर विरचित एक ही टीका थी। क्योंकि चण्डु पण्डित का समय वि० सं० १३५३ (ई० १२९६) है। उससे बहुत पहिले भूदेव पण्डित ने नैषध पर अपनी टीका वि० सं० ११०७ (ई० १०५०) में लिखी थी।

> युग्माश्वांके निरुक्ते ९७२ शकनृपसमये कान्यकुब्जेश्वरस्य
> आदेशं प्राप्य यत्नान्नलचरित महाकाव्य टीकां व्यधत्त।
> सूरिर्भूदेवसंज्ञो दिनमणितनयः कूर्मपूर्वांगजन्मा
> तुष्यात्तेनान्तरात्मा त्रिभुवनजनकोमापतिः श्रीमहेशः॥

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूदेव पण्डित ने भी कान्यकुब्जेश्वर की आज्ञा प्राप्त करके ही नैषध पर अपनी टीका लिखी। इस प्रकार नैषध पर भूदेव की टीका की रचना ई० १०५०, (वि० ११०७) में हुई। अतः भूदेव कृत-नैषध टीका के आरम्भिक पद्य के अनुसार ९७२ शक से पहिले श्रीहर्ष की स्थिति थी, यह स्वीकार करना होगा।

इस सन्दर्भ में एक बात और भी विचारणीय है कि चण्डु पण्डित ने अपनी टीका के प्रारम्भ में यह उल्लेख किया है कि श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' की रचना अपने पिता के प्रतिस्पर्धी उदयन को परास्त करने के लिए की। राजशेखर ने भी उक्त बात का समर्थन किया है, उन्होंने उदयन का नाम नहीं दिया यह राजशेखर का सौजन्य है। चण्डु पण्डित के उद्धरण से यह बात तर्क का विषय बन जाती है कि ये उदयन 'कुसुमांजलि' ग्रन्थ के निर्माता सुप्रसिद्ध उदयनाचार्य ही हैं और श्रीहर्ष उन्हीं के समकालीन थे। 'लक्षणावली' नामक अपने ग्रन्थ में उदयन ने अपना स्थिति काल ९८४ ई० (१०४१ वि०) लिखा है। लक्षणावली में उदयन ने जो लक्षण बनाए हैं, श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' में उनका खण्डन कर दिया है।

एक उदाहरण देखिए—खण्डनखण्डखाद्य के अनुमान खण्डन में श्रीहर्ष लिखते हैं :—

> तस्मादस्माभिरप्यास्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
> त्वद् गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यमि॥

उदयनाचार्य ने भी अपने आत्मतत्वविवेक के दूसरे परिच्छेद में विस्पष्ट रूप से श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य'-स्थित सन्दर्भ का खण्डन किया है। अतः श्रीहर्ष उदयनाचार्य के समकालीन हैं, यह मानना युक्तियुक्त है। किसी एक ग्रन्थकार का दूसरे विद्वान् द्वारा किया

हुआ खण्डन तो कालान्तर में भी हो सकता है, परन्तु दो ग्रन्थकारों को अपने-अपने ग्रन्थों में एक दूसरे के विचारों का खण्डन उन दोनों की समकालीनता को ही बतलाता है, दोनों के विभिन्न समय में स्थित रहने पर यह बात नहीं हो सकती।

दूसरा भ्रम इतिहास विवेचकों में यह रहा है कि श्रीहर्ष के—"गोविन्दनन्दनतया च वपु श्रिया च" पद्य का अर्थ करते समय 'गोविन्दनन्दन' शब्द का अर्थ जयचन्द्र लगाया गया, तथा विजयप्रशस्ति के साथ 'तात' शब्द के आ जाने से विजयचन्द्र को जयचन्द्र का पिता समझ लिया गया। 'गौडोर्वीश' शब्द से भी जयचन्द्र का ही निर्धारण किया गया, परन्तु ये सभी निर्णय भ्रम मूलक हैं।

वस्तुत 'गोविन्दनन्दन' शब्द बहुव्रीहि समासगत है, उससे जयचन्द्र के पिता मदनपाल की सूचना मिलती है। मदनपाल के पौरुष के सबंध में निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है—

तस्यात्मजो (श्रीचन्द्रदेवात्मज ज) मदनपाल इति क्षितीन्द्र—
चूडामणिर्विजयते निजगोत्र चन्द्र ।
यस्याभिषेके कलशोल्लसिते पयोभि
प्रक्षालित कलिरज पटल धरित्र्या ॥
यस्यासीद् विजयप्रयाणसमये तुगाचलोत्तुंगेश्चलद्
न्मादत्कुम्भिपदक्रमासमभर भ्रश्यन्महीमण्डले ।
चूडारत्न विभिन्न तालुगलितस्त्यानासृगुद्भासित
शेषशैशवशादिव क्षणमसौ क्रोडे निलीनानन ॥

श्रीहर्ष के 'विजय प्रशस्तिरचनातातस्य' इस पद्यांश को देखकर यहाँ 'तात' शब्द का अर्थ पिता लगाकर, विजय शब्द के साथ जोड़ने से यह पद्य जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की स्तुति के लिए आया है, यह कुछ विद्वानों ने निराधार कल्पना की है।

विजयप्रशस्ति शब्द सापेक्ष्य है। किसकी विजय-प्रशस्ति, ऐसी जिज्ञासा का यही उत्तर है कि कवि के आश्रयदाता राजा की विजय-प्रशस्ति, इससे गौड देश के राजाओं की विजय प्रशस्ति से ही वहा तात्पर्य प्रकट होता है, न कि जयचन्द्र या उसके पिता की स्तुति से।

श्रीहर्ष की १२ वीं शताब्दी के पूर्व मे स्थिति होना तो इसी से सिद्ध है कि १३ वीं शती के श्री गंगेशोपाध्याय ने अपने 'चिन्तामणिनाम' के ग्रन्थ में श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' का उद्धरण देकर उसका खण्डन किया है। इस प्रकार श्रीहर्ष के समय के विषय में चण्डु पण्डित के उल्लेख के आधार पर तथा उदयनाचार्य के ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से श्रीहर्ष का उदयनाचार्य

का समकालीन होना सिद्ध होता है। उदयनाचार्य ने अपनी रचना में सं० १०४१ (सन् ९८४) का स्वयं उल्लेख किया है। भूदेव पण्डित ने नैषधीयचरित की अपनी टीका में टीका का रचना काल सं० ११०७, (सन् १०५०) स्वयं लिखा है। इन प्रमाणों से श्रीहर्ष का स्थितिकाल नवम तथा दशम शताब्दी का मध्यकाल ठहरता है न कि ११ वीं या १२ वीं शती। आशा है उक्त तथ्यों पर विद्वान् लोग विचार करेंगे।

वाणभट्ट की नारी-दृष्टि

जगन्नाथ पाठक

यदि किसी कवि के संवेदन की गहराई से आकलित करना हो तो उसका नारी के प्रति दृष्टि-कोण समझने का प्रयत्न इसमें विशेष सहायक होगा। नारी संसार का सबसे चिरन्तन रहस्य है, जो अत्यन्त निकटवर्तिनी होकर भी, अपनी मूक समर्पणशीलता के कारण प्रत्येक चिन्तक के लिए आज तक दुर्निज्ञेय बनी हुई है। जो रहस्य सम्पूर्णतया रहस्य है, वह किसी प्रकार विदित होने पर ही सार्थक होगा, ऐसी बात नहीं। इतिहास साक्षी है कि नारी की अपेक्षा पुरुष के सबल हाथ संसार में अनेकानेक परिवर्तन लाए। इतना होते हुए भी नारी का मूल्य कभी कम न हुआ, यद्यपि उस मूल्य को पहचानने की दृष्टि में युग के अनुसार अंतर प्राय होते रहे।

प्राचीन भारत में नारी-जीवन की विविध रंगारंग झलकियाँ देखने को मिलती हैं, जिसमें उसके प्रति एक ओर सम्मान है तो दूसरी ओर उपेक्षा या अनादर भी कम नहीं। वैराग्य या मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल होने के कारण ही कुछ इस प्रकार नारी को सम्भवत उपेक्षा और अनादर का विषय बनना पड़ा हो। किन्तु इसके अतिरिक्त भी 'अबला' के रूप में अति प्राचीन काल से ही वह 'धर्षित' रही। महाकाव्य-युग में नारी अपने आप में पूर्ण होकर प्रकट हुई। सीता में उसे वह पूर्णता प्राप्त हुई।

कालिदास ने नारी को अपनी अतिशय कोमल भावनाओं से सँवारने का प्रयत्न किया। पत्नी के रूप में वह पति के एकनिष्ठ-प्रेम की अधिकारिणी सिद्ध हुई। कालिदास के अनुसार वह विशेष रूप में एक लता है जो किसी न किसी वृक्ष का आश्रय पाकर रहती है। कालिदास को पुरुष और नारी के लिए लता और वृक्ष की उपमा बहुत पसंद थी। इस आश्रयाश्रयिभाव रूप-सम्बन्ध में नारी की सबसे बड़ी सार्थकता उसकी प्रणयकलित समर्पणशीलता पर कालिदास अतिशय मुग्ध थे। संस्कृत के काव्य में नारी का प्रणयिनी या पत्नी-रूप विशेष निखार को प्राप्त हुआ है और माता आदि रूप अपेक्षाकृत-संकेतित मात्र है। नारी के लिए पुत्रवती होना उसकी सबसे बड़ी सफलता है, इस अंश में उसकी पूर्णता मातृत्व की स्थिति में होती है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम बाणभट्ट के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का आकलन करते हैं तब सबसे पहले हमें बाण के निजी जीवन पर नारी का प्रभाव देखना चाहिए। बाण के कथनानुसार जब वह बालक ही थे तभी विधिवश उन्हें मातृवियोग प्राप्त हुआ (स बाल एव बलवतो विधेर्वशादुपसम्पन्नया व्ययुज्यत जनन्या)। यहाँ कवि के निर्देश पर ध्यान देना चाहिए। वह यह नहीं कहता कि उसकी माता दिवंगत हो गई, प्रत्युत स्थिति को और भी

संवेदनपूर्ण बनाते हुए लिखता है कि वह अपनी जननी से वियुक्त हो गया। ऐसा स्वाभाविक लगता है कि बाण को मातृवियोग आजीवन उद्वेलित करता रहा होगा। इस प्रकार मातृ-स्नेह से वञ्चित होकर वह नारी के मातृत्व के प्रति अधिक श्रद्धावान् है। इसी सन्दर्भ में बाण का यह कहना कि उत्पन्न स्नेहवाले पिता ने ही उसका मातृत्व (माता का कर्तव्यपालन) किया (जातस्नेहस्तु नितरां पितैवास्य मातृतामकरोत्) बहुत अर्थपूर्ण निर्देश है। बाण की दृष्टि में 'मातृत्व' स्नेह की एक विलक्षण अनुभूति है जो केवल उत्पन्न करने वाली जननी में ही नहीं, किसी भी प्राणी के मन में उत्पन्न हो सकती है। वह विलक्षण स्नेहानुभूति बाण की जननी राजदेवी के दिवंगत होते ही बाण के पिता चित्रभानु भट्ट में उत्पन्न हुई। किन्तु बालक बाण को उस स्थिति में मातृवियोग का अनुभव क्या हो सकता था! उसे किसी भी माता की अपेक्षा थी जो पिता के रूप में प्राप्त हुई। किन्तु मातृत्व की विलक्षण अनुभूति अपने सहज रूप में जितनी जननी में हो सकती है, वह अन्य में नहीं। पिता ने मातृत्व का अभिनय मात्र किया, यद्यपि वह अभिनय भी बिना कुछ उस प्रकार की विशेष अनुभूति के सम्भव नहीं था। कहने का तात्पर्य यह कि बाण का आरम्भिक जीवन (लगभग १४ वर्षों तक) पिता की मातृस्नेह संवलित छाया में यापित हुआ, जो बहुत कुछ सहज न थी और यह सम्भव भी नहीं था। फलतः महाकवि बाणभट्ट को मातृवियोग का कष्ट रहा और वह नारी के मातृत्व के प्रति विशेष श्रद्धावान् रहे। इस भावना का प्रतिफलन यद्यपि उनके साहित्य में बहुत संक्षिप्त और अधूरा है, तथापि उतना ही अपनी सांकेतिकता में बहुत अर्थपूर्ण है। चौदह वर्ष की अवस्था में जब बाण को पितृवियोग का अनुभव हुआ तब उसके मर्म पर लगे दैव के अकरुण प्रहार ने उसे झकझोर डाला। बाण को फिर अपनी कुल परम्परा और मर्यादा की परवाह न रही, फलतः वह 'इत्वर' (आवारा) हो गया।

बाण के लिए वह केवल पिता का वियोग नहीं था, प्रत्युत पितृवियोग के साथ मातृवियोग का दुहरा वज्रपात था, जिसने कच्ची उम्र के बाण को सब प्रकार से अव्यवस्थित कर डाला। इसी सन्दर्भ में बाण की पितृस्वसा (बुआ) 'भारती' का उल्लेख आवश्यक है। हर्षचरित से विदित होता है कि माता और पिता से वियुक्त 'इत्वर' बाणभट्ट को अन्ततः एक 'स्निग्ध' सहारा मिल ही गया था। भारती सम्भवतः विधवा थी और बाण के प्रीतिकूट में ही रहती थी। बाण भारती की चर्चा करते हुए यह कहना नहीं भूले कि वह माता की भांति स्नेह से आर्द्र-हृदयवाली थी (मात्रेव स्नेहार्द्रहृदया)। यहाँ बाण के हृदय का मातृ-स्नेह बड़ी खूबी के साथ व्यञ्जित हुआ है। इससे सूचित होता है कि बाण नारी के मातृत्व के प्रति कितने श्रद्धालु थे और इस अंश में नारी उनकी दृष्टि में साक्षात् देवता थी।

सम्भवत यदि माता की मृत्यु के पश्चात् पिता से वही मातृस्नेह और पिता की मृत्यु के पश्चात् वही प्राय मातृस्नेह भारती से नहीं प्राप्त होता तो बाण का जीवन स्नेह-रस से वंचित हो जाता और वह 'इत्वर' जीवन व्यतीत करने पर न सँम्हल पाने की स्थिति में 'महाकवि बाणभट्ट' नहीं हो पाता।

बाण के साहित्य में उसके मातृस्नेह का प्रतिफलन सर्वथा पूर्ण नहीं है। हर्षचरित में हर्षवर्धन की माता यशोमती का प्रेम यद्यपि पति के प्रति अधिक व्यक्त हुआ, क्योंकि वह पति की मृत्यु के पूर्व ही अग्निप्रवेश कर लेती है, फिर भी उसका पुत्र-स्नेह भी पुत्र को देखते ही उमड़ पड़ता है। कादम्बरी के वैशम्पायन शुक के आरम्भिक जीवन का प्रसंग बहुत कुछ बाण के जीवन से मिलता-जुलता है, वह मानो बाण के जीवन की प्रतिछाया है। वैशम्पायन शुक भी शाल्मली वृक्ष के एक जीर्ण कोटर में निवास करने वाले शुक-दम्पति के इकलौते पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। जन्म के बाद अतिप्रवृत्त प्रसव वेदना के कारण शुकी परलोक सिधार जाती है (सम्भवत बाण की भी यही स्थिति रही हो)। शुकी की मृत्यु के पश्चात् शोक से मर्माहत होकर भी वृद्ध शुक ने वैशम्पायन को पाला। वह वृद्ध था, इसलिए दूसरे नीड़ों के उच्छिष्ट शालिवल्लरियों के तण्डुल कणों को लेकर तथा वृक्ष के नीचे गिरे हुए फल-शकलों को ला-ला कर शिशु को खिलाता और उपयुक्त शेष से अपनी क्षुधा कुछ शान्त कर लेता। इस प्रकार कवि ने अपने जीवन की ही घटनाओं का एक मोहक प्रतिभास वैशम्पायन शुक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जरद्वृद्ध शुक का अकस्मात् यमसदृश शबर द्वारा मारे जाने का प्रस्तुत साक्ष्य बाण को अकेला छोड कर पिता चित्रभानु भट्ट के अकस्मात् स्वर्ग सिधार जाने के साथ प्राप्त होता है।

प्रस्तुत कथानक के साथ इतने सार्थक और सजीव रूप में बाण द्वारा अपने जीवन को संकेतित करना उसकी आपबीती मार्मिक अनुभूति का सूचक है, जिसके लिए वह आजीवन उद्वेलित रहा।

नारी के मातृत्व का अत्यन्त सजीव चित्रण बाण ने कादम्बरी में महाराज तारापीड की प्रधान महिषी विलासवती के प्रसंग में प्रस्तुत किया है। बाण को सहज मातृस्नेह जीवन में प्राप्त नहीं था, किन्तु बाण की नारी-दृष्टि इतनी समर्थ थी कि सहज रूप में नारी के मातृत्व को अपनी लेखनी में उतार सके।

महारानी विलासवती ने जब से किसी कथावाचक के मुख से सुना कि पुत्ररहित को शुभ लोक प्राप्त नहीं होते तथा पुत्र पुन्नामक नरक से रक्षा करता है, वह शोकमग्न हो जाती है। इतना होते हुए भी विलासवती एक नारी है और नारी का नारीत्व मातृत्व की स्थिति में ही

सार्थक होता है। पुत्र से खाली नारी का अंक सूखा मरु है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार पुत्र की आवश्यकता इसलिए है कि उससे पितरों के लिए पिण्ड-दान का क्रम चलता रहे। दूसरे, पुत्र पिता की अर्जित सम्पति का भोग, रक्षण और संवर्धन करता है। कालिदास के अनुसार शुद्धवंश्यसन्तति से इहलोक एवं परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है (सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे। रघु० १।६८)। किन्तु सच्चाई यह है कि पुत्र नारी की, कम से कम भारतीय नारी की, अश्रुकलित मूक तपस्याओं का एकमात्र फल है, जिसे वह पति की एकान्त सेवा के रूप में पती है। कालिदास और बाण नारी की इस आभ्यन्तर स्थिति से पूर्णतया अवगत थे। यहां तक कि 'मृच्छकटिक' की गणिका वसन्तसेना में भी अपने प्रियतम चारुदत्त का पुत्र देखते ही मातृत्व जाग पड़ता है और वह वात्सल्य से अकस्मात् अभिभूत हो जाती है। रदनिका दासी से जब चारुदत्त का मुग्ध दारक वसन्तसेना के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है, तब वह बताती है कि यह तेरी जननी है। यहां कवि ने नारी-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि को बड़ी स्वाभाविकता के साथ संकेतित किया है। वसन्तसेना एक गणिका है, रूप और शरीर का विक्रय करके धन अर्जित करने वाली वेश्या! इतना होने पर भी वह नारी है और नारी-सुलभ गुण-दोषों से युक्त है। किन्तु जिन्हें एक गणिका के नारी होने में सन्देह है उन्हें मृच्छकटिक का कवि इस प्रसंग से यही बताना चाहता है कि गणिका भी एक नारी के रूप में अपनी सार्थकता जननी होने में अनुभव करती है, उसे भी मातृत्व अभीष्ट है। कहने का तात्पर्य यह कि नारी अपने सभी रूपों में जननी का पद पा कर ही सार्थक होनी है। यद्यपि आधुनिक युग में नारी के सम्बन्ध में प्रस्तुत भारतीय दृष्टिकोण में बहुत अन्तर आ गया है तथापि जो सर्वथा सत्य है वह परिवर्तित नहीं हो सकता। हमें यहां बाण की 'विलासवती' की चर्चा करनी चाहिए, एक पति के मन में अपनी गर्भिणी अथवा पुत्रवती पत्नी को देखने की उत्सुकता का बहुत मार्मिक अंकन बाण ने राजा तारापीड़ के माध्यम से प्रस्तुत किया है। बाण के अनुसार नारी की उस पूर्णता में पति अपने प्रतिबिम्ब को देखकर स्वर्गिक आनन्द से उल्लसित हो जाता है। दिलीप के माध्यम से कालिदास ने भी इस औत्सुक्य-मिश्रित आनन्द का वर्णन रघुवंश के तृतीय सर्ग में किया है। बाण ने गर्भभरालस और पुत्रसनाथोत्सङ्ग नारी को जिन उपमाओं के माध्यम से देखा है, वह उनकी नारी-दृष्टि को आकलित करने में विशेष सहायक हो सकता है। तारापीड़ कहते हैं कि कब मैं पूर्ण गर्भ के भार से अलसाई हुई एवं ईषत् पाण्डु मुख वाली देवी को पौर्णमासी की उस रात्रि की भांति, जिसमें पूर्ण चन्द्र का उदय आसन्न हो, देखूँगा, तथा कब हरिद्रा से रञ्जित वस्त्र धारण की हुई एवं सुत से सनाथ उत्सङ्ग वाली देवी

बालातप के साथ उदित सूर्यमण्डल वाली द्यौ (आकाश) की भांति मुझे आनन्दित करेगी। जिस प्रकार रात्रि की पूर्णता पूर्णिमा के चन्द्रोदय से होती है, बाण की दृष्टि में नारी अपने गर्भभार से उसी पूर्णता या अपने मातृत्व की सार्थक्ता की स्थिति में पहुँचती हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार नारी अपने नवजात शिशु से सनाथ होकर अत्यन्त शोभादीप्त हो जाती है।

हर्षचरित में भी यशोमती का वर्णन करते हुए बाण की यही आस्था प्रकट हुई है। जिस गर्भिणी नारी को कालिदास ने 'निधानगर्भा पृथिवी की भांति-अभ्यन्तर में लीन पावक वाली शमी की भांति एवं अन्तःसलिला सरस्वती की भांति' समझा था (रघु० ३।९) उसे ही बाण 'अन्तर्गत कुल-पर्वत वाली पृथ्वी की भांति, गुहागत सिंह वाली हिमालय की मेखला की भांति, मेघपटल से अन्तर्हित सूर्य वाली दिनश्री की भांति' (आदि रूपों में) देखा है। हम पहले कह चुके हैं कि बाण की नारी अपने मातृत्व में बाण-साहित्य में पूर्णतया अंकित नहीं हो पाई है। हर्षचरित की यशोमती का अवसान पति (प्रभाकर-वर्धन) की मृत्यु के पूर्व चिता में जल कर हो जाना है और कादम्बरी की विलासवती चन्द्रापीड़ की अध्ययन-शाला से लौट कर आने के पश्चात् कथानक के रंगमंच से प्राय: निकल जाती है।

बाण ने अपने इत्वर जीवन में प्राप्त साथियों में तीन स्त्रियों का उल्लेख किया है। उनमें एक थी, कात्यायनिका चक्रवाकिका। यह कोई भिक्षुणी प्रतीत होती है, जिसने पति के दिवंगत हो जाने के पश्चात् कषाय धारण कर लिया था। दूसरी महिला थी केरलिका, संवाहिका (पैर दबाने वाली) और तीसरी थी हरिणिका, नर्तकी। मर्यादा-शून्य इत्वर जीवन में बाण ने निश्चय ही नारी के भौतिक सौन्दर्य का आकर्षण बड़ी तीव्रता से अनुभव किया होगा, जिसके फलस्वरूप वह अपने निर्माणों में नारी के यौवन को तथा दैहिक ऐश्वर्य को बड़ी सफलता के साथ उभार सके। नारी के शरीर का आकर्षण यदि केवल प्रदीप्त वासनाओं की तृप्ति मात्र के लिए होता तो मेधावी बाण का जीवन जिस चपलता की ओर प्रवृत्त था उसी में समाप्त हो जाता। बाण ने अपने उन 'इत्वर' साथियों को छोड़ दिया और दार-परिग्रह के पश्चात् 'अभ्यागारिक' बने।

बाण स्वयं विवाह की मर्यादा स्वीकार कर चुके थे। अन्य शास्त्रीय मर्यादाओं और धार्मिक नियमों में बाण की अटूट आस्था थी। उनकी दृष्टि में विवाह एक मर्यादित जीवन में प्रवेश के लिए अनिवार्य था। जीवन में भटकना और मर्यादाओं की ओर से स्वतन्त्र हो जाना बाण की दृष्टि में सम्भवतः सामाजिक दोष था, इसी कारण वह यथासंभव सँम्हल गए और एक नियमित एवं केन्द्रित जीवन अपनाया। इतना होने पर भी वह अपने 'चापल' के लिए लोक में 'बदनाम' हो चुके थे।

अपनी पत्नी (एवं पुत्र के) सम्बन्ध में बाण की चुप्पी का कोई अर्थ नहीं लगा। ऐसा लगता है कि बाण नारी के पत्नीत्व की अपेक्षा बहुत कुछ 'प्रणयिनीत्व' के प्रति पक्षपाती थे। इसी कारण नारी-प्रणय बाण-साहित्य में बड़ी सूक्ष्मता और सजीवता के साथ अंकित मिलता है।

यह तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि नारी के प्रति बाण का दृष्टिकोण सम्पूर्णतया वायवीय या काल्पनिक है, 'प्रणय' मात्र (शुद्ध मांसल वासना के अर्थ में) पर अवलम्बित है। बाण की नारी बहुत कुछ भूमि के सम्पर्क से मुक्त है और फिर वह प्रणय के आकाश में उन्मुक्त विचरण करनेवाली है। बाण ने यदि नारी को पूर्णतया स्वर्गिक न बनाकर उसके शरीर में इहलोक की मिट्टी की सोंधी गन्ध भरने का प्रयत्न किया होता तो निश्चय ही बाण की प्रतिष्ठा विश्वकवि के रूप में होती।

कालिदास इसी अंश में सफल हो जाते हैं। एक ओर जब कालिदास स्वर्ग को पृथ्वी पर लाने में प्रयत्नशील हैं तो दूसरी ओर बाण पृथ्वी को स्वर्ग पर ले जाना चाहते हैं। कालिदास के अनुसार 'शकुन्तला' के रूप में 'प्रभातरल' ज्योति पृथ्वी पर अवतरित हुई अर्थात् स्वर्ग पृथ्वी को मिला और पृथी के वातावरण में पला। किन्तु बाण ने 'कादम्बरी' में महाश्वेता और कादम्बरी को स्वर्ग (दिव्य गन्धर्वलोक) से पृथ्वी पर उतारने का प्रयत्न नहीं किया, प्रत्युत स्वयं पृथ्वी चन्द्रापीड़ के रूप में स्वर्ग (महाश्वेता और कादम्बपी) से मिलने के लिए दिव्यलोक पहुंची। कहने का तात्पर्य है कि बाण की नारी कालिदास की अपेक्षा बहुत कुछ सौगन्धिक सम्पर्क से मुक्त है। कारण यही प्रतीत होता है कि बाण का जीवन पूर्णतया ऐश्वर्योन्मुख था। वह पृथ्वी की रंगीनियों को अधिकतर महत्त्व देते थे और केवल काल्पनिक आवेश में अपने निर्माण द्वारा किसी दिव्यलोक की कल्पना में मग्न थे। फिर भी बाण की सफलता यह है कि उनके दिव्य पात्र अपने वातावरण में भी लौकिक विवशताओं से मुक्त नहीं हैं। इस अंश में बाण की दृष्टि सर्वथा मानवीय अनुभूतियों से प्रेरित प्रतीत होती है।

यह ठीक है कि नारी बाण की लेखनी से अपने समग्र रूपों में उभर नहीं पाई है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बाण-साहित्य में उसका अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष अभिव्यक्त हो सका है। बाण की नारी कालिदास की भाँति 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ' भले नहीं है, किन्तु वह जो भी है अपने आप में पूर्णतया सँवरी हुई, मैत्री-सहगत भावना से उल्लसित एवं तेजोदीप्त है। बाण के 'हर्षचरित' का प्राप्त अन्तिम अंश पुरुष द्वारा आपद्ग्रस्त 'उदाररूपा' नारी की रक्षा का निर्देश करता है।

बाण ने सम्भवतः 'कादम्बरी' को नारी-प्रणय की सम्पूर्णता अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लिखा था। कादम्बरी नारी की ऐसी प्रणयिनी रूप में अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। जिस

प्रकार नदियों के सहस्रशाख स्रोत समुद्र में जा कर विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार बाण का समग्र वाग्विस्तार नारी के महान् सौन्दर्यमय व्यक्तित्व में प्रवेश पाता है।

'कादम्बरी' की प्रणयिनी नारी का व्यक्तित्व सर्वथा वासनाकलित, उच्छल नहीं है, प्रत्युत उसमें बहुत कुछ सहजता, स्थायिता एवं त्यागवृत्ति भी है। महाश्वेता का त्याग एवं कादम्बरी का स्नेह नारी के *अन्तःकरण की उज्ज्वलतम चेतना की प्रशस्त अभिव्यक्ति है। यही हिमालय* के शिखर हैं जिन पर कादम्बरी का प्रत्येक पाठक पहुचने का प्रयास करता है। निश्चय ही बाण की लेखनी की चरम उपलब्धि त्यागमूर्ति महाश्वेता और स्नेहमयी कादम्बरी है।

बाण को भारतीय नारी की चरम विशेषता उसका कष्टसहन पूर्णतया अवगत था। इसे बाण ने कथा के माध्यम से जन्म-जन्म की प्रतीक्षा से अनुप्राणित करके और भी सहनीय बना दिया है। नारी और पुरुष का प्रणय एक साधारण घटना है और उनका विवाह के बन्धन में आना दूसरी सामान्य घटना है। किन्तु उन्हें प्रतीक्षा के सहारे कष्टसहन की स्थिति में पहुचाना एक विशेष बात है। बाण ने तात्कालिक अनुभूतियों और संवेगों को बड़ी सफलता से वाणी में अभिव्यक्त किया है। बाण की नारी महाभारत के इस कथन के सर्वथा अनुकूल है—

सुख सुखेनेह न जातु लभ्य दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।

वनपर्व २३४-५

नारी के रूप में महाश्वेता बाण की अप्रतिम सृष्टि है। बाण की त्यागशील एवं धैर्यशील नारी महाश्वेता के रूप में अपना सफल एवं उज्ज्वल व्यक्तित्व प्राप्त कर सकी है। सम्भवत बाण को नारी में किसी प्रकार की कालिमा या कलंक मान्य नहीं था। नारी सब प्रकार कलङ्कशून्य, अनाविल है और इस लिए वह महाश्वेता है।

इस प्रकार बाण ने नारी-व्यक्तित्व का एक विशद मनोरम चित्र अपने विशाल साहित्य में प्रस्तुत किया है।

आधुनिक भारतीय कला*

बिनोद बिहारी मुकर्जी

(१)

इस विवेचन का उद्देश्य है आधुनिक भारतीय कला के विकास और वृद्धि का सर्वेक्षण करना। आधुनिक भारतीय कला का इतिहास जटिल है ; क्योंकि उसने अनेक प्रभावों को आत्मसात किया है तथा उन्नीसवीं शती से लेकर वह अनेक दिशाओं की ओर मुड़ा है।

सौंदर्यशास्त्र के नाना सिद्धान्तों से प्रभावित होने के अतिरिक्त आधुनिक उद्योग का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। औद्योगिक कला की बहुपक्षीय प्रवृत्तियाँ हैं और उनका पूर्व तथा पश्चिम के सभी देशों के आधुनिक कलाकारों पर समान रूप से व्यापक प्रभाव पड़ा है। आज सामान्य मनुष्य की अभिरुचि सौंदर्यशास्त्र के उच्च सिद्धान्तों की अपेक्षा औद्योगिक कला से अधिक नियन्त्रित होती है।

अपने अध्ययन में आधुनिक कला के इस विशेष पक्ष को मैंने छोड़ दिया है। मेरा मुख्य प्रयत्न है उन नाना प्रेरक शक्तियों का उल्लेख करना जो हमारे देश के कलाकारों को प्रेरणा देती हैं।

दुर्भाग्य का विषय है कि अभी तक आधुनिक भारतीय कला के क्षेत्र में आलोचनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है। अतः जो मत व्यक्त किए गए हैं, वे प्रायः मेरे अपने हैं और मेरे अध्ययन के परिणाम हैं।

हाथ की छपी एक बाइबिल की प्रति और योरोपीय कला-कृतियों के विविध नमूने लेकर जेस्यूट पादरी पीयेर दू जारिक अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ। यहीं से कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में पूर्व-पश्चिम के संपर्क के इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारंभ होता है।

अकबर और जहाँगीर के दरबारी कलाकारों ने योरोपीय कलाकृतियों का अनुकरण एवं नकल की और कुछ उकेरनों को आलंकारिक अभिप्राय के रूप में भी अपनाया।

तब से लेकर मुगल साम्राज्य के अन्त तक तत्कालीन दरबार के सम्पर्क में रहने वाले रईसों के संग्रह योरोपीय तैल-चित्र, नागदंत पर उत्कीर्ण लघुचित्र तथा नाना कला-उपादानों से भर गए।

---

* अध्यापक श्री विनोद बिहारी मुकर्जी ने कला के संबंध में विश्वभारती में तीन विशेष व्याख्यान दिए थे उन्हीं का हिंदी अनुवाद यहां दिया जा रहा है।

मुगल दरबारी और अभिजात जन जिस समय उत्सुकता पूर्वक योरोपीय कलाकृतियो का सग्रह कर रहे थे, योरोपीय शिल्पी स्वय, ईस्ट इ डिया कम्पनी द्वारा स्थापित सपर्क के फलस्वरूप प्राच्य कला-उपादानो का परिचय प्राप्त कर रहे थे।

योरोप के विभिन्न भागो से कलाकार, भारत, चीन, जापान, इन्दोनेशिया के पूर्वीय जीवन को चित्रित करने के लिए आए। ऐसा नहीं कि ये कलाकार वास्तव में असाधारण या प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, किन्तु उनके चित्र एव रेखाचित्र हमे तत्कालीन जीवन पद्धति का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। डच, फ्रेञ्च, ब्रिटिश, जर्मन, तथा रूसी कलाकार जो भारत आए, उन्होंने अपने चित्रो मे तत्कालीन सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का सजीव चित्र सुरक्षित रखा है। इन कलाकारो मे ब्रिटिश कलाकार हाज एव डेनियल का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। हाज ने भारतीय दृश्यों का अकन किया और उसकी कृतियो की शैली बहुत ऊँचे स्तर की है।

इसमे संदेह नहीं कि, १७ वीं शती के अन्त से १९ वीं शती के प्रारभ तक, पूर्व-पश्चिम के पारस्परिक सबधों का प्रभाव कला के क्षेत्र मे, अभिजात वर्ग तक ही सीमित रहा। अभी यह पारस्परिक सबध आध्यात्मिक नहीं था और भावों को अधिक प्रभावित नहीं किया था।

भारतीय कला में वास्तविक पुनरुत्थान १९ वीं शती के आरभ मे प्राच्य एव पाश्चात्य सभ्यता के मध्य घटित सघर्ष का परिणाम था। योरोपीय कला पर प्राच्य प्रभाव की अपेक्षा एशिया पर योरोपीय सभ्यता का प्रभाव कहीं अधिक व्यापक रूप से पडा। इतना होते हुए भी हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह प्रभाव आनुपातिक असतुलन के होते हुए भी पारस्परिक था, और इसका बहुत व्यापक परिणाम हुआ।

यहाँ हम यह विवेचन करने का प्रयत्न करेगे कि प्राच्य एव पाश्चात्य सस्कृतियो के पारस्परिक आदान-प्रदान से कैसे आधुनिक कला का जन्म हुआ।

मुट्ठी भर अग्रेजी-शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने आधुनिक भारतीय सस्कृति की आधार-शिला का निर्माण किया। ये लोग पाश्चात्य सस्कृति के महान् सघात की प्रत्यक्ष उपज थे, किन्तु हम कह सकते हैं कि आधुनिक कला के इतिहास मे इस नव-आग्ल-शिक्षित वर्ग का ऐसा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा।

१८ वीं शती मे अनेक अद्भुत् वस्तुओं के व्यवसायियो तथा विदेशी कलाकारों ने इस देश मे स्टूडियो या शिल्पशालाए खोलीं। वे कला-प्रेमियों के एक अत्यन्त शौकीन समाज की अभिरुचि की तृप्ति करते थे। ये व्यवसायी अनेक देशी दस्तकारों के सरक्षक भी थे, जिन्हे वे अपने सहायक के रूप मे काम पर लगाए रखते थे।

क्रमशः इस देश में भारतीय कलाकारों एवं शिल्पियों को शिक्षा देने के लिए एक कला-विद्यालय स्थापित करने के पक्ष में, जनमत का निर्माण हुआ। शीघ्र ही भारतीय एवं योरोपियों के सम्मिलित प्रयास से एक कला-केन्द्र की स्थापना हुई।

सन् १८५१ में, कलकत्ते में नवीन आदर्श के अनुकूल कला-केन्द्र की स्थापना हुई। साउथ केनसिंगटन में प्रशिक्षित ब्रिटिश कलाकारों ने एक प्रशिक्षण-पद्धति का सूत्रपात किया जो एक प्रकार से आज भी आधिपत्य जमाए हुए है।

इसी समय भारतीय कलाकार और शिल्पी प्रनिरूपण (Model drawing), दृश्य-भूमिका (Perspective), उकेरना (Engraving), शिला-मुद्रण (Lithography), मृत्तिका-प्रतिरूपण (Modelling), फोटोग्राफी आदि कलाओं के क्षेत्र में दीक्षित हुए।

जिन्होंने सर्वप्रथम भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी वे अधिकतर प्रगतिशील अभिजात वर्ग के सदस्य थे। परन्तु जिन्होंने सर्व-प्रथम 'आंग्ल' अर्थात् केनसिंगटन-पद्धति की कला-संबंधी शिक्षा प्राप्त की, वे प्रायः कारीगर वर्ग के ही थे। आंग्ल भाषा एवं साहित्य के माध्यम से भारतीयों ने योरोपीय साहित्य एवं दर्शन में जो सर्वोत्तम था, उसका ज्ञान प्राप्त किया किन्तु इस नूतन-कला के प्रशिक्षण के माध्यम से वे उस युग की निकृष्टतम कला के सम्पर्क में ही आ पाए।

नव-स्थापित कला-केन्द्र में प्रशिक्षित कलाकारों के प्रयास से १९ वीं शती के अंत में एक प्रकार की परम्परा की स्थापना हुई। इस परम्परा का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

उस समय कलकत्ता के बड़टोला, अहीरी टोला, चितपुर मुहल्ले में उत्किरण-शिल्प की छोटी बड़ी अनेक शिल्पिशालाएँ खुलीं। इन कलाकारों के चित्रों के नमूने श्रीरामपुर मिशनरी प्रेस द्वारा मुद्रित पुस्तकों में हमें मिल सकते हैं। देवताओं एवं देवियों के हाथ के छपे और हाथ के रँगे अनेक चित्र तथा अन्य अनेक प्रकार के चित्र, इन शिल्पिशालाओं के शिल्पियों के अति प्रिय विषय थे।

ये सब उकेरनें उस समाज की कलात्मक अभिरुचि और स्तर की परिचायक हैं जो यात्रा, कविगान तथा पँचाली से आनन्दित होती थी। वस्तुतः ये कलाकृतियाँ, १९ वीं शती की लोक-कला की नवीनतम अभिव्यक्तियाँ थी।

सन् १८६० में लोक (Locke) नामक कलाकार के उद्योग से कला-विद्यालय में कला का नियमित शिक्षण प्रारंभ हुआ और उसके थोड़े समय बाद ही एक कला-वीथिका की स्थापना हुई। प्रथम अनुवर्ग के छात्रों में अन्नदाचरण बागची (सन् १८४९-१९०५ ई०) थे।

उनका स्मरण उनकी प्रतिमा के लिए नहीं किन्तु उस ऐतिहासिक समय के स्मरण के लिए किया जाता है, जिसने उनका निर्माण किया।

अन्नदाचरण बागची स्वत शिक्षित कुलीन वर्ग के थे। समसामयिक अभिरुचि को बदलने के उद्देश्य से ही, उन्होंने जान-बूझकर कला-विद्यालय में प्राप्त शिक्षा का उपयोग किया। कला के क्षेत्र में ऐसा सचेतन-प्रयास उस समय तक नहीं हुआ था।

अन्नदाचरण बागची ने महिलाओं के लिए शास्त्पण-गोष्ठियों कला प्रदर्शनियों तथा शिल्प-प्रशिक्षण की योजना बनाई थी। उन्हीं के प्रयास से लोकभाषा में अपने ढग की प्रथम कला-विषयक पत्रिका 'शिल्प-पुष्पाञ्जलि' प्रकाशित हुई। उन्होंने सन् १८७८ में कलकत्ते में प्रथम कला-शाला की स्थापना की। चित्रकला (Graphic Art) के क्षेत्र में उनका विशेष योगदान पौराणिक विषयों के, पाश्चात्य कला से प्राप्त शारीरविचार (Anatomy) पर आधारित, शिला-मुद्रण-उल्लेखन (Lithographic Drawing) में था। अन्नदाचरण तथा आर्ट-स्कूल के दूसरे लोग नव-विचारों को आत्मसात करने में किस सीमा तक सफल हुए इसका अनुमान लार्ड नार्थब्रुक की निम्न टिप्पणी से लगाया जा सकता है।

"अन्त में मेरे विचार से आज अत्यन्त सतोषपूर्ण वस्तु, विद्यार्थियों की कला-कृतियाँ हैं, जिनका आप लोग अगले कक्ष में निरीक्षण करेंगे। आप देखेंगे कि एक अद्वितीय विद्यार्थी की ही कृतियाँ वहाँ नहीं हैं, बल्कि विद्यालय के चार या पाँच उत्तम विद्यार्थियों की कृतियाँ हैं। जो, मैं नि:सकोच रूप से कह सकता हूँ कि किसी भी देश में किसी भी शिल्प-विद्यालय के प्रवर-छात्रों के लिए श्लाघनीय होंगी।"

अन्नदाचरण ने अपने युग के बुद्धिजीवी वर्ग का ध्यान, अपनी ओर आकर्षित करने के लिए चूडात उद्योग किया, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वे पूर्णत सफल हुए। मुख्य रूप से उनका प्रभाव साधारण शिक्षित-जनों तक ही सीमित रहा। किन्तु अन्नदाचरण ने एक पूर्णरूपेण विदेशी तथा भारतीय परम्परा एव सस्कृति से विछिन्न कला आन्दोलन का प्रतिनिधित्व किया।

शिक्षित समाज जिसे अन्नदाचरण कला के क्षेत्र में सक्रिय-रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित नहीं कर सके थे, राजा रविवर्मा द्वारा सर्वप्रथम प्रभावित हुआ।

अनुकरण और अनुसरण के द्वारा पाश्चात्य-कला के आदर्शों में पारगत होने के लिए प्रयत्न करने वालों में राजा रविवर्मा अग्रगण्य थे। वे (सन् १८४८-१९०६ ई०) विशिष्ट प्रतिभाशाली थे, एव अपने जीवन-काल में ही लोक प्रिय हो गए। वस्तुत वे भारतीय-कला के क्षेत्र में अजात-प्रतिद्वन्द्वी राजा थे। यदि हम उनकी सफलता एव प्रबल प्रभाव के कारणों का विश्लेषण करें तो हमें पता चलेगा कि राजा रविवर्मा का आविर्भाव ऐसे काल में हुआ जब कि शिक्षित

भारतीय परम्पराओं के प्रति जागरूक हो रहे थे। जिस प्रकार बंगाली कवि नवीनचन्द्र ने काव्य के क्षेत्र में अपना ध्यान राष्ट्र के प्राचीन गौरव पर केन्द्रित करने का प्रयास किया, उसी प्रकार राजा रविवर्मा ने कला के क्षेत्र में किया। उन्होंने प्राकृतिक पृष्ठभूमि में अलौकिक को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, किन्तु इसमें वे असफल रहे। अलौकिक का प्राकृतिक ढंग पर अत्यंत असमान रूप से निरूपण ही उनकी असफलता का कारण बना। यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे प्रयास इन्हीं कारणों से असफल रहे। रविवर्मा लोकप्रिय थे, क्योंकि उन्होंने पौराणिक विषयों, देवी-देवताओं के तैल-चित्र मुद्रित किए एवं उन्हें सस्ते दामों पर बेचा।

ब्रिटिश-कला के प्रकृतिवाद की ओर रविवर्मा आकर्षित हुए और उसे वे भारतीय आदर्शों के अनुरूप बनाना चाहते थे।

त्रावणकोर में राजा रविवर्मा का जन्म हुआ था। अपने समय के सामन्ती-राजाओं के यहाँ उनका सहज-प्रवेश था और बड़ी आसानी से उन्हें उनका संरक्षण सुलभ हो गया।

कोई दूसरा भारतीय भीतरी सजावट की उस समय की माँग को, जो कि उस युग का फ़ैशन था, पूरा नहीं कर सका। राजा रविवर्मा उस युग के आराध्य बन गए; क्योंकि केवल वे ही नई रुचि की माँगों की पूर्ति करने में समर्थ थे। वस्तुतः वे समाज के प्रगतिशील वर्ग के प्रतीक एवं अभिव्यक्ति थे।

उन बंगालियों में जो रविवर्मा से प्रभावित हुए थे बामापद बंद्योपाध्याय अत्यंत उल्लेखनीय हैं। बामापद ऐसे कलाकारों में से थे, जिन्होंने रविवर्मा के पदचिह्नों का अनुगमन किया, एवं शिक्षित अभिजात वर्ग का संरक्षण तथा प्रशंसा प्राप्त की। हमें सर्वप्रथम इन्हीं की कृतियों में बंगाल का स्थानीय-रंग प्राप्त होता है।

बामापद (सन् १८५१-१९३२ ई०) कलकत्ते के नवस्थापित औद्योगिक-विद्यालय के छात्र तथा अन्नदाचरण के समकालीन थे। उन्होंने तत्कालीन कलकत्ता-वासी एक योरोपीयन कलाकार से चित्रकला एवं पुराने चित्रों के पुनरुद्धार की कला सीखी थी।

बामापद ने बहुत भ्रमण किया था। उन्होंने सम्पूर्ण उत्तरी भारत की यात्रा की थी। वे राजस्थान भी गए थे एवं राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ था।

विशेषकर पौराणिक विषयवस्तु पर आधारित चित्रों के लिए, आज भी बामापद का स्मरण किया जाता है। राजा रविवर्मा के समान उन्होंने भी तैलचित्र की प्रक्रिया से अपने चित्रों के सस्ते पुर्नमुद्रण करवाए और इनके माध्यम से उनका नाम बंगाल के घर-घर में पहुंच गया।

यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अभी-अभी हमने जिन समसामयिक तीन असाधारण कलाकारों

के सबध में विवेचना की है, वे चित्रो के विषयों एव साहित्यिक सदर्भों के कारण ही अधिक लोकप्रिय हुए, न कि चित्रों के आभ्यतरिक सौन्दर्यात्मक मूल्य के लिए। इसीलिए उनकी अन्यकृतियाँ, यथा अर्धप्रतिमा (Portraits) एव दृश्यचित्रण (Landscape) कभी भी जनप्रिय नहीं हो सके।

शशिकुमार हेश में योरोपीयन कला की सुदीर्घ परम्परा का प्रत्यक्ष ज्ञान एव शिल्पविधि के प्रयोग की असाधारण प्रतिभा का सयोग—दिखता है। सभवत वे प्रथम भारतीय थे जिन्होंने इटली में कला-प्रशिक्षण प्राप्त किया था। शशिकुमार पूर्णरूप से प्रतिमाचित्रण करने वाले कलाकार थे। यह आश्चर्य का विषय है कि अपनी योग्यता एव सुअवसर के होते हुए भी, शशिकुमार कलाकार के रूप में अपने ही देश में प्रतिष्ठित नहीं हो सके। अपनी विचित्र रुचि एव स्वभाव के कारण अपनी योरोपीय पत्नी के साथ उन्होंने एक विदेशी, स्व-निष्कासित व्यक्ति की भाँति जीवन-यापन किया।

शशिकुमार ने कला के क्षेत्र में ऐसे समय में प्रवेश किया जब कला सरक्षक प्रकृतवाद एव आदर्शवाद दोनों के ही प्रशसक थे। शशिकुमार की कृतियों से उन्हें सतोष प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि वे यथार्थवादी थी। सभवत इसी कारण वे प्रतिष्ठित समाज की लोकप्रियता अर्जित नहीं कर सके। भारतीय कला के इतिहास में शशिकुमार का नाम विस्मृत-प्राय है, किन्तु वे अनुकरण युग के उन अग्रगण्य कलाकारों में प्रमुख है जो योरोपीय शिल्पविधि, विशेष करके प्रतिमा अकन, पोर्ट्रेट पेटिंग में कुशल थे।

शशिकुमार के कला-सबधी परिवेश की तुलना, १९ वीं शती के उन भारतीय लेखकों के साथ की जा सकती है, जिन्होने आग्लभाषा में साहित्य सर्जना की थी। भारतीय कलाकारों द्वारा, १९ वीं शती की योरोपीय अकन शिल्पविधि का अनुकरण करने एवं उसमें पारगत होने की कुछ प्रचेष्टाओ का हमने सकेत किया है। राजा रविवर्मा एव कलाविद्यालय का प्रभाव पेस्तन जी-बोमन जी, तथा गणपति मिस्त्री जैसे कलाकारो पर प्रत्यक्ष था।

इन नवीन कलाकारों में से बहुसख्यक आधुनिक काल तक जीवित रहे। इसके बाद जैमिनीकुमार गगोपाध्याय, ए० धुरधर और भास्कर मात्रे जैसे प्रतिभाशाली कलाकार हमारे सामने आते है। वे लोग यथार्थवादी परम्परा के अगुआ थे, जिसका विकास आगे चलकर हुआ।

अब तक हमने आधुनिक-कला पर पाश्चात्य प्रभाव के प्रथम सघात का सर्वेक्षण किया, इस अध्ययन से निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

प्रथमत हमें ऐसे कारीगर मिलते हैं, जिन्होने उकेरने की पद्धति एव लीथोग्राफ की रीति

सीखी तथा अत्यंत मौलिक कृतियाँ बनाईं। दूसरे आधुनिक शिक्षित कलाकार दिखते हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय एवं धार्मिक दृष्टि सामने रखकर चित्रों का अंकन किया। तीसरी हमें विशुद्ध प्रतिमा अंकन (पोर्ट्रेट) एवं प्राकृतिक दृश्य अंकित करने वाले कलाकार मिलते हैं।

भारत में आधुनिक महानगरों का विकास, उद्योग एवं वाणिज्य के केन्द्रों के आसपास हुआ। यह स्वाभाविक था कि नूतन कलाविकास भी नवीन महानगरों में हो और वैसा हुआ भी। इसी समय के आसपास नगर एवं ग्राम के बीच आंग्ल भाषाविद् प्रगतिशील वर्ग एवं प्राचीन पद्धति के शिक्षित वर्ग के बीच एक उग्र दरार पड़ गई। यह दरार चित्रकला के क्षेत्र में भी पड़ी। प्राचीन भारतीय कला पर शोधकार्य प्रारंभ हो रहे थे एवं पुरातत्त्वीय खोजों से प्राप्त नवीन सामग्री की सहायता से प्राचीन भारत के इतिहास का पुनर्लेखन हो रहा था। तो भी, समाज अपने सम्पूर्णरूप में भारतीय कला एवं संस्कृति के मूल्य को स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक-सा था।

लोगों में भारतीय कला के संबंध में उत्सुकता क्यों नहीं थी, जब कि शिक्षित वर्ग धर्म, समाज, साहित्य एवं ज्ञान की प्रत्येक दूसरी शाखा में रुचि ले रहा था, कहना कठिन है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस युग की प्रमुख चिंता वैज्ञानिक शोध ही थी एवं भारतीय कला या उसकी परम्परा का उससे कोई संबंध नहीं था। इसके अतिरिक्त विशेष नैतिक दृष्टिकोण भी शिक्षित वर्ग के परम्परागत भारतीय-कला का रसास्वादन करने में बाधक हुआ। किन्तु बंकिमचन्द्र में इन सब विरोधों के रहते हुए भारतीय कला के प्रति रुचि जाग्रत करने का प्रयास दिखता है। तथाकथित हिन्दू-राष्ट्रीयतावाद के मनोभावों के बावजूद भी, बंकिम का यह कथन अभी भी उचित हैं :—

"अब पहाड़ी के शिखर पर चंदन का वृक्ष, शिलाखंडों के भग्न अर्धभूमिसात गुफाओं से युक्त पर्वत शिलाएँ, ईंट या पत्थरों की देखने में सुन्दर प्रतिमाएँ ही अलंकरण हैं। यदि उनमें से कुछ कलकत्ता के भव्य भवनों के भीतर रख दी गई होतीं, तो महानगर और भी सुंदर दिखता। खेद है! अब मूर्तिकला के नाम पर एक हिन्दू को औद्योगिक विद्यालय में मृत्तिका-प्रतिरूपण (माडलिंग) या गुड़िया बनाना सीखना पड़ेगा।"

इसमें संदेह नहीं कि यह कथन संक्षिप्त तथा आकस्मिक है। परन्तु उस समय के किसी अन्य लेखक का ऐसा कथन हमें प्राप्त नहीं होता।

यह पुनरावृत्ति करना यहाँ अनावश्यक है कि ब्रिटिश कला का प्रभाव भारतीय संस्कृति के लिए स्वस्थकर नहीं था।

किन्तु इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ कहना ही होगा कि भाषा एव साहित्य के क्षेत्र में ब्रिटिश प्रभाव इतना उर्वर सिद्ध हुआ, जबकि कला के क्षेत्र में वह इतना निष्फल। भारतीयो के लिए अग्रेजी भाषा पश्चिमी सभ्यता की कुजी थी। अग्रेजी भाषा के ही द्वारा हम पाश्चात्य साहित्य, दर्शन एव उसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण को समझ सके। दूसरी ओर जो कला ब्रिटिश लोग अपने साथ भारत में लाए वह अत्यत सकुचित थी एव उत्कृष्ट योरोपीय कला परम्परा से विच्छिन्न थी। यही कारण है कि कला के तथाकथित योरोपीय आदर्शों ने जो वस्तुत पूरे-के-पूरे ब्रिटिश थे उस समय के भारतीय कला के आदर्शो को बोझिल बना दिया। जिस आदर्श मे दक्षता प्राप्त करने के लिए रविवर्मा तथा दूसरो ने इतना प्रयास किया वह केवल एक प्रकार की कारीगरी थी और कुछ नहीं। और स्वय यह कारीगरी योरोपीय कला की प्रमुख परम्परा से उतनी ही दूर थी, जितनी कि भारतीय-कला-परम्परा से।

इस अवरोध मे से अवनीन्द्रनाथ के कार्य मे पहले पहल एक नवीन मार्ग के दर्शन होते हैं। जिस समय अवनीन्द्रनाथ ने कला के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय हमारे सामाजिक जीवन मे पश्चिमी प्रभाव बहुत कुछ घुलमिल चुका था। बकिमचद्र एव रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा के फलस्वरूप बगला साहित्य उस समय पूर्ण विकसित हो चुका था। कला के क्षेत्र मे इस प्रकार की सफलता के लिए सच्चा प्रयास अवनीन्द्रनाथ के द्वारा किया गया।

उस पृष्ठभूमि का सकेत हम पीछे कर चुके है, जिसने अवनीन्द्रनाथ को प्रभावित किया। राजा रविवर्मा की ही भाँति उन्होंने भी साउथकेन्सिगटन के कला-आदर्शों मे दक्षता प्राप्त करने का यत्न किया, जिन्हें उन्होंने अपने ब्रिटिश एव इतालवी शिक्षकों से सीखा था।

अपनी कला-साधना में अवनीन्द्रनाथ बदल कैसे गए, यह सजीव-रूप से उनकी अपनी पुस्तक 'जोडासाँकोर धारे' (जोडासाँको के समीप) मे वर्णित हुआ है। वे उसमें कहते हैं कि एक आयरिश सज्जाचित्र (illumination) तथा दिल्ली के रगमच पर चित्रों के एक सग्रह (album) दोनों ने एक साथ उन्हें अभिभूत कर दिया। दोनो मे—एक भारतीय —दूसरा विदेशी, उन्ह कुछ समानता दिखी। प्रथम बार इस तथ्य के प्रति अवनीन्द्रनाथ सजग हुए कि केवल अभिव्यक्ति का प्रकृतिवादी ढग कलाकार का उद्देश्य नहीं हो सकता। अपनी कल्पना को अभिव्यक्त करने के लिए उन्हे कला की उपयुक्त भाषा अब मिल गई। अपनी राधा और कृष्ण चित्रमाला में उन्होने मुगल चित्र-कला की शैली का उपयोग किया है।

अवनीन्द्रनाथ के प्रयोग की समता माइकेल मधुसूदन से की जा सकती है, जिन्होने यूरोपीय साहित्य के अपने ज्ञान का उपयोग नई शैली के बगला साहित्य के सृजन में किया। पाश्चात्य शैली में पूर्णरूप से पारगत तो थे ही, अवनीन्द्रनाथ ने योरोपीय कला के ज्ञान से प्रेरित हो

भारतीय कला के तत्त्वों को अपनाया। यूरोप की यथार्थवादी कला में प्रकाशच्छाया (chiaroscuro) का प्रभाव अत्यंत उल्लेखनीय तत्त्व है, जब कि भारतीय कला में रूप और रेखा की विशेषता महत्त्वपूर्ण है। अवनीन्द्रनाथ की राधा और कृष्ण चित्रमाला में इन दो विरोधीगुणों का ऐसा समन्वयपूर्ण मेल दिखता है कि वे भारतीय कला के लिए ही नहीं आधुनिक एशिया की कला के लिए भी उल्लेख योग्य हैं। तुलनात्मक अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जावेगी।

सन् १८८१ में पाश्चात्य कला का अध्ययन जापान में आरंभ हुआ। जापानियों का मुख्य उद्देश्य शीघ्र से शीघ्र पश्चिमी कला के आदर्शों का अनुकरण करना तथा उनमें दक्ष होना था। उस समय तथा राजा रविवर्मा के समय में बहुत कम अंतर था। पुरानी परंपरा तथा नवीन आदर्श के बीच जो व्यवधान था, उसे दूर करने का प्रयास अभी तक किसी ने नहीं किया था। एशिया में इस दिशा में सबसे पहला प्रयास फेनोलेसा ने किया। उसने जापान के परंपरागत कलारूप को पुनरुज्जीवित किया। जब हम अवनीन्द्रनाथ के आंदोलन की तुलना फेनोलेसा के कला-आंदोलन से करते हैं तो उनकी मौलिकता स्पष्ट हो जाती है।

जब अवनीन्द्रनाथ राधा और कृष्ण चित्रमाला के चित्र अंकित कर रहे थे, उस समय वे ई० बी० हैवेल के सीधे संपर्क में आए। हैवेल कला विद्यालय के प्रिंसिपल होकर १८९६ ई० में कलकत्ता आए थे। उद्योगीकरण के विरुद्ध तथा विलियम मौरिस द्वारा चलाए शिल्प के पुनरुज्जीवन के लिए इंग्लैंड में जो आंदोलन चल रहे थे, हैवेल की उनके साथ सहानुभूति थी। भारतीय कला के क्षेत्र में हैवेल ने उसी प्रकार का आंदोलन प्रारंभ करने की चेष्टा की और इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर कला और शिल्प के क्षेत्र में भारतीय परंपरा को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रोत्साहन दिया। विशेष करके उन्होंने शिल्प के पुनरुत्थान पर बल दिया। कला विद्यालय का उन्होंने अवनीन्द्रनाथ को वाइस-प्रिंसिपल नियुक्त किया तथा परंपरानुगत भारतीय कला को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रोत्साहित किया। अवनीन्द्रनाथ हैवेल को अपना गुरु मानते थे; क्योंकि हैवेल ने भारतीय कला और संस्कृति के अध्ययन में उनकी सहायता की थी।

हैवेल और अवनीन्द्रनाथ एक दूसरे के पूरक थे। हैवेल कला में प्राचीन भारतीय परंपरा को पुनरुज्जीवित करने के पक्ष में थे और अवनीन्द्रनाथ ने अपनी कलाकृतियों में वास्तव में यही किया। अवनीन्द्रनाथ में प्रतिभा थी, किन्तु उसे खोजने का श्रेय हैवेल को है।

भारतीय संस्कृति के पुनरुज्जीवन में हैवेल के योगदान को लोग प्राय भूल गए हैं। भारतीय शिल्पियों को अंग्रेज शिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण देने के हैवेल पूर्णरूप से विरोधी थे। वे इसमें विश्वास नहीं करते थे कि भारतीय शिल्पियों तथा कारीगरों की प्रतिभा क्षीण हो गई है। हैवेल जानते थे कि महान् कला और महान् शिल्प एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, अपितु जुड़ी हुई हैं। इसीलिए उन्होंने आर्ट स्कूल की प्रशिक्षण प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन करने की कोशिश की। दुर्भाग्यवश भारतीय और योरोपीय दोनों ने ही उनके उत्साह को संदेह तथा अप्रसन्नता की दृष्टि से देखा। पीछे जब हैवेल ने सर रिचर्ड टैम्पल संग्रह के चित्रों को, जिसमें इतालवी तथा पश्चिम के अन्य प्रसिद्ध कलाकारों के चित्रों की अनुकृतियाँ थीं, बेचना शुरू किया तथा इसके बजाय भारतीय चित्रों को संग्रहीत करना आरंभ किया, उनके विरोधियों को उन पर प्रहार करने का अवसर मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी ने हैवेल का समर्थन किया, किन्तु अन्य लोगों ने सोचा कि हैवेल प्रगतिशीलता के विरोधी हैं।

कलकत्ता के नागरिकों को संबोधित करते हुए समाचार पत्रों में उन्होंने पत्र लिखे, जिनमें उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की कि कला धनी वर्ग के विलास की वस्तु नहीं है, किन्तु राष्ट्रीय संस्कृति का अविभाज्य अंग है।

हम यह बता चुके हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा नए शहर में फलफूल रही थी, जो नए वाणिज्य व्यापार का भी केंद्र था। नवीन नागरिक जीवन का विस्तृत भारत से मानसिक और सौंदर्य-शास्त्र विषयक कोई संपर्क नहीं था। नगर एक द्वीप के समान था, जो दोनों प्राचीन भारतीय और आधुनिक योरोपीय सांस्कृतिक परंपराओं से विच्छिन्न था। सच तो यह है कि नए नगर के शिक्षित प्रगतिशील समाज में भारत या योरोपीय किसी भी कला की सच्ची परंपरा के प्रति जागरूकता नहीं थी। नए फैशन के लोगों की कला-अभिरुचि या उसे जो भी कहा जाय, ब्रिटिश यात्रियों, कलाकारों और विचित्रवस्तुओं के विक्रेताओं के संपर्क से बनी। एक ओर तो अन्नदाचरण बागची और राजा रविवर्मा का प्रभाव था और दूसरी ओर भारतीय कला के प्रति विद्वेषी अंग्रेज़ों के आलोचनात्मक लेखों का। अंग्रेज़ लेखक वास्तव में यह मानते थे कि भारतीय कला पिछड़ी हुई तथा पुरातन है और समग्र रूप से प्राच्य-कला अपरिपक्व और आदिकालीन समाज को प्रतिबिंबित करती है।

उस समय कला के आदर्श के रूप में एक मात्र स्वीकृत आदर्श ग्रीक कला थी और भारतीय समाज में भी यही आदर्श मान्य था।

उस समय भारतीय कला के प्रति उपेक्षा का एक दूसरा कारण भी था। उदार हिंदू

प्रगतिशील वर्ग समाज को रूढ़िवादी कुसंस्कारों तथा प्राचीन अंध विश्वासों से बचाने का तथा नवीन समाज की सृष्टि करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे भारतीय देवी देवताओं की मूर्तियों को अंधविश्वास के प्रतीक समझते थे। अंधविश्वास की वस्तु तथा कलाकृति के रूप में उनके मूल्य का अंतर उनके समक्ष स्पष्ट नहीं था। अतएव हैवेल का आन्दोलन तथा अवनीन्द्रनाथ की शैली आसानी से प्रतिक्रियावादी ठहरा दिए गए; और शिक्षित वर्ग ने सचमुच यह समझ लिया कि हैवेल प्रगतिशीलता के विरोधी हैं।

(क्रमशः)

बौद्धभिक्षुओं की आहार चर्या

चन्द्रशेखर प्रसाद

(१)

देश विदेश में बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ-साथ उसके सिद्धान्तों का भी विकास हुआ। बुद्ध के उपदेश समान ही रहे, लेकिन उत्तरोत्तर उसकी व्याख्या बदलती गयी और तदनुसार नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता रहा। इस विकास क्रम में उत्तरोत्तर तीन यानों का उदय हुआ—हीनयान, महायान और तन्त्रयान। हीनयान का प्रचार लंका, बर्मा, स्याम आदि दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में हुआ। महायान चीन, कोरिया, जापान आदि उत्तरपूर्वी ऐशियाई देशों में लोक प्रिय बना, और तन्त्रयान का ज़ोर तिब्बत मे रहा। इनके अनुयायी भिक्षुओं की चर्या भी भिन्न होती गयी। प्रस्तुत निबन्ध मे भिक्षुओ की आहारचर्या के सम्बन्ध में हम देखेंगे कि भौगोलिक विलगाव और सैद्धान्तिक भिन्नताओं ने किस प्रकार आमिषाहार के प्रति भिक्षुओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन कर दिया।

पालि विनय एव निकायो में आये उल्लेखों के अनुसार बुद्ध के जीवन-काल से ही बौद्ध भिक्षुओ के बीच आमिषाहार का प्रचलन है। विनय में मांसादि खाने के सम्बन्ध में अनेक नियमों का विधान है, जिनमें बुद्ध ने अशुद्ध मांस के निषेध और शुद्ध मास के ग्रहण का आदेश दिया है (देवनागरी महावग्ग पृ० २५३)। बौद्ध भिक्षुओ में आमिषाहार को लेकर तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायो में आलोचनाये भी हुआ करती थीं। शायद इन्हीं आलोचनाओं के भय से देवदत्त ने बुद्ध से आमिषाहार के निषेध का प्रस्ताव किया था। बुद्धने प्रस्ताव पर असहमति प्रकट की, परन्तु उन्होंने स्वय लोकनिन्दा के भय से आदमी एव हाथी घोड़े आदि जानवरों के मांस को खाने से मना किया। दुर्भिक्ष पीडित जनता एव शिकारियों को छोडकर इन बड़े जानवरों का मास ग्रामवासी साधारणत नहीं खाते थे (दे० महावग्ग-२३३-६)।

स्वय बुद्ध आमिषभोजी थे। विनय (दे० महावग्ग-२५२) में कथा आती है कि एक जैन उपासक बौद्धधर्म में प्रवर्तित हो गया। उसने बुद्ध को भोजन के लिये आमन्त्रित किया और बाजार से मास खरीद कर खिलाया। दूसरी कथा दीघ निकाय (दे० दीघ० भा० २, ९८-११) मे आती है कि बुद्ध ने अपनी अन्तिम यात्रा के दौरान चुन्द के घर भोजन किया। उस भोजन मे सुकरमद्दव भी शामिल था। उसे खाकर बुद्ध अस्वस्थ हो गये और शीघ्र ही महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। यही बुद्ध का अन्तिम भोजन हुआ। 'सुकरमद्दव' के अर्थ के

सम्बन्ध में विद्वानों में मतान्तर है, फिर भी बहुत से विद्वान इसका अर्थ 'सुअर का मांस' ही करते हैं।

आमिषाहार की यह प्रथा हीनयानी भिक्षुओं के बीच आज भी चल रही है। हीनयानियों से तात्पर्य थेरवादियों से है; क्योंकि हीनयान के अन्य सम्प्रदाय जीवित नहीं हैं। उनका सिद्धान्त मात्र ही हमें उपलब्ध है। महायान के विकास के साथ ही भिक्षुओं के आचार में परिवर्तन आया और महायानी भिक्षुओं ने आमिषाहार का निषेध किया। तांत्रिक बौद्धधर्म में विश्वास रखनेवाले तिब्बती लामाओं में हीनयानियों की तरह यह प्रथा वर्तमान है।

१ हीनयानी भिक्षुओं में आमिषाहार

(क) थेरवाद का सिद्धान्त-लक्ष्य

सम्पूर्ण दुःखों का अन्त ही थेरवादियों का चरम लक्ष्य है। सम्पूर्ण दुःखों का अन्त निर्वाण में होता है। अतः दूसरे शब्दों में निर्वाण की प्राप्ति ही उनका चरम लक्ष्य है। पालि त्रिपिटक में निर्वाण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटिनिसग्गो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं"—(दे० महावग्ग, ६) सभी संस्कारों के शमन सभी चित्तमलों के निसर्ग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध स्वरूप ही निर्वाण है।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार तीन निरोध होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है—सभी संस्कार, सभी चित्तमल, और तृष्णा। इन तीनों में तृष्णा अन्य दो का मूल (समुदय) है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—काम तृष्णा (विषय भोग की चाह), भव तृष्णा (पुनर्जन्म की चाह), विभव तृष्णा (उच्छेद दृष्टिवालों की कामोपभोग की चाह)। इन तीनों प्रकार की तृष्णा के कारण ही प्राणी कामोपभोग की चीजों में आसक्त होता है, इस कामोपभोग को अक्षुण्ण रखने के लिये एवं मृत्योपरान्त सुखमय जीवन की कामना से व्रतादि में आसक्त होता है, तथा अपनी आत्मा को नित्य और अमर मानकर इसमें आसक्त हुआ रहता है। ये आसक्तियाँ ही चित्तमल हैं। आसक्तियों के कारण ही प्राणी नानो प्रकार के कार्य कलापों में संलग्न रहता है। इन कार्यों के परिणामस्वरूप उसका जीवन-प्रवाह दृढ़ होता चला जाता है। जब वह मरता है, तब अपने इन कर्मों के फल (संस्कार) के अनुरूप ही दूसरा जन्म ग्रहण करता है। उसके जन्म-मरण का क्रम इस तरह निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। जन्म और मरण से लेकर बीच की सभी घटनाओं को बुद्ध ने दुःख कहा है। प्राणी सदा शारीरिक मानसिक दुःख से दुःखित रहता है, सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता के कारण दुःखित रहता है तथा अपने सुखों के दुःख में परिणत हो जाने से दुःखित रहता है।

प्रतिलोम से इन दुःखों के अन्त के लिये अन्ततोगत्वा तृष्णा से अशेष विराग, उसका निरोध त्याग, परित्याग, उससे मुक्ति, अनासक्ति अनिवार्य है। तृष्णा के बिना भाव से ही क्रमशः चित्तमलों का समूलोच्छेद होगा, संस्कार का बनना रुक जायेगा, पुनर्जन्म नहीं होगा और सभी दुःखों का अन्त हो जायेगा। अतः संक्षेप में तृष्णा के निरोध को ही निर्वाण कहा गया है। एकप्रकार से तृष्णा की निरोधावस्था को प्राप्त करना ही भिक्षु-जीवन का चरम लक्ष्य है।

निरोधावस्था को प्राप्त करनेवाले भिक्षु को अर्हत् कहा जाता है। अर्हत्व की प्राप्ति जीवन में भी होती है। अर्हत् अन्य साधारण भिक्षुओं की तरह दैनिक कार्यक्रम में लगा रहता है परन्तु इन कार्यों में उसकी आसक्ति नहीं होती है। ये कार्य केवल क्रियामात्र ही होते हैं। अतः ये पुनर्जन्म के फेरे में नहीं डालते हैं। मृत्यु के साथ-साथ वह 'निरुपाधि सेसनिब्बाण' को प्राप्त कर लेता है। वह दीप की लौ की तरह बुझ जाता है और बुझी लौ की तरह उसकी सत्ता अनिर्वचनीय हो जाती है।

मार्ग—तृष्णा के निरोध के लिये बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश दिया। उन्होंने कामोपभोग के जीवन को हीन और अनर्थकर कहा है। इस प्रकार का जीवन तृष्णा के निरोध में सहायक नहीं है, क्योंकि कामोपभोग में रत सांसारिक प्राणी के लिये कामतृष्णा का त्याग सम्भव नहीं है। उन्होंने तपश्चर्या द्वारा शरीर को कष्ट देने के जीवन को दुःखपूर्ण और अनर्थकर कहा। छः वर्ष की दुष्कर तपस्या के बाद उन्होंने स्वयं अनुभव किया था कि शारीरिक कष्ट के रहते चित्त और प्रज्ञा की भावना संभव नहीं है और बिना प्रज्ञा के उत्पन्न हुए तृष्णा का समूलोच्छेद भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार के जीवन को भी तृष्णा के निरोध के लिये असक्षम कहा है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के जीवन को उन्होंने अन्त (अति का जीवन) की संज्ञा दी और इन दोनों अन्तों को छोड़ते हुए मध्य के जीवन को अपनाने का उपदेश दिया। आचार की दृष्टि से यही बुद्ध का मध्यमा प्रतिपदा या मध्यम-मार्ग है। (दे० महावग्ग १३)।

मध्यमा प्रतिपदा में आठ अंग हैं- अतः इसे अष्टाङ्गिक मार्ग भी कहा जाता है। ये अंग इस प्रकार हैं—

प्रज्ञा	१	सम्यक् दृष्टि—	कुशलाकुशल कर्मों एवं उनके हेतुओं का ज्ञान, आर्यसत्यों आदि-उपदेशों का ज्ञान आदि आदि।
	२	सम्यक् संकल्प—	निष्कामता का संकल्प, अद्रोह का संकल्प, अहिंसा का संकल्प।

शील	३.	सम्यक् वाणी—	असत्य नहीं बोलना, चुगली नहीं करना, कठोर वचन नहीं बोलना, व्यर्थ नहीं बोलना।
	४.	सम्यक् कर्मान्त—	हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, कामवासना से दूर रहना।
	५.	सम्यक् आजीव—	विहित ढंग से भोजनोपार्जन करना।
समाधि	६.	सम्यक् व्यायाम—	अकुशल भावनाओं को चित्त से निकालने, अनुत्पन्न अकुशल भावनाओं को रोकने, कुशल भावनाओं को उत्पन्न करने और उत्पन्न कुशल भावनाओं को बढ़ाने का प्रयत्न।
	७.	सम्यक् स्मृति—	काय, वेदना, चित्त और धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानते हुए उनके प्रति जागरूक रहना।
	८.	सम्यक् समाधि—	चित्त की एकाग्रता।

आष्टाङ्गिकमार्ग विशुद्धि के लिये है। इसके पालन और विशुद्धि की प्राप्ति में उत्तरोत्तर तीन अवस्थायें आती हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा की। ये अवस्थायें उत्तरोत्तर होते हुए भी पृथक् नहीं हैं। पूर्ववर्ती परवर्ती का आधार है, परन्तु पूर्ववर्ती की परिसमाप्ति और परवर्ती के प्रारम्भ के बीच रेखा नहीं खींची जा सकती है। इनमें प्रगति साथ-साथ होती है। पूर्ववर्ती में प्रगति होने के साथ ही परवर्ती में भी प्रगति होती है और परवर्ती की प्रगति पूर्ववर्ती की अवस्था में दृढ़ता और उसकी प्रगति में तीव्रता लाती है। अतः ये अवस्थायें परस्पर आश्रित हैं। इनका संक्षिप्त परिचय (विशुद्धिमग्ग के अनुसार) इस प्रकार है :—

शील—यह निर्वाणोन्मुखमार्ग की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में भिक्षु कायिक वाचिक परिशुद्धि की ओर अग्रसर रहता है। वह कायिक वाचिक अकुशल कर्मों का परित्याग और कुशलकर्मों का सम्पादन करता है। परित्याग और सम्पादन का कार्य केवल कायिक-वाचिक स्तर पर ही नहीं होता बल्कि मानसिक स्तर पर भी होता है। वह अकुशल कर्म की भावनाओं को दूर करने और कुशलकर्म की भावनाओं को मन में लाने की कोशिश करता है।

भिक्षु भिक्षुओं के लिये उद्दिष्ट प्रतिमोक्ष के नियमों का पालन करता है। अपने आचरण को ठीक करता है और अहितकर लोगों का साथ छोड़ता है। छोटी-छोटी त्रुटियों में भी भय देखता है और उनके प्रति सजग रहता है। शिक्षापदों को समझते हुए ग्रहण करता है। वह इन्द्रियों को संयमित करता है। अगर चक्षु से चीजों (रूप) को देखता है तो उसे देखना मात्र ही समझता है। वह चीजों के आकार प्रकार को ग्रहण कर उसमें आसक्त नहीं

होता है। इसी तरह अन्य इन्द्रियो एव उनके विषयो के सम्बन्ध मे भी सयम रखता है। वह विहित ढग से जीविकोपार्जन करता है। वह चीवर (वस्त्र), भोजन, शयनासन और भैषज सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए इनका सेवन करता है। (दे० दीघ० भा० १, ५५)।

शील के पालन से भिक्षु का कायिक कर्म परिशुद्ध हो जाता है, वाचिक कर्म परिशुद्ध हो जाता है और चित्त (मन) परिशुद्ध हो जाता है। तीनो के परिशुद्ध हो जाने से इनमे एकरूपता आती है, सामञ्जस्य होता है। इस प्रकार परिशुद्ध चित्त ही समाधि भावना के योग्य होता है। अत शील को उत्तरविशुद्धि का आधार कहा गया है।

समाधि—समाधि इस मार्ग की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था मे चित्त की विशुद्धि के लिये प्रयत्न किया जाता है। चित्त को चचल और चपल कहा गया है। इसे किसी विषय पर स्थिर करना कठिन है। इस चित्त से प्रज्ञा की भावना सभव नहीं। शील से चित्त परिशुद्ध होता है, परन्तु इसकी चचलता और चपलता पूर्णत नहीं मिटती है। नीवरणों (चित्त को चचल चपल बनानेवाले धर्मों) को दुर्बल कर दिया जाता है, पर उनका समूलोच्छेद वहाँ नहीं होता है।

चित्त के दमन के लिये सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और ध्यानाभ्यास की आवश्यकता होती है। ध्यान चित्त को सभी विषयो से अलग कर किसी विषय विशेष पर एकाग्र करने की कायिक मानसिक प्रक्रिया है। ध्यानाभ्यास के साथ ही नीवरण (कामच्छन्द-विषयों का राग व्यापाद-द्रोह, थीनमिद्ध कायिक मानसिक आलस्य, उद्धच्च-कुक्कुच्च—उद्वेग-खेद, विचिकिच्छा-सशय) कटते जाते हैं और पाँच ध्यानाङ्ग (वितक्क विचार पीति सुख और एकग्गता) उत्पन्न होते है। इन ध्यानाङ्गों के आधार पर ध्यान की पाँच अवस्थायें की गयी है। प्रथम ध्यान की अवस्था में सभी अङ्ग वर्तमान रहते हैं, परन्तु द्वितीय तृतीय और चतुर्थ अवस्था में क्रमश एक-एक अङ्ग हटते जाते है और पचम ध्यान की अवस्था में केवल उपेक्षा (सुख की जगह) और एकाग्रता रह जाती है। ध्यान की अवस्था को पहुचते-पहुचते चित्त अत्यन्त शान्त और सूक्ष्म हो जाता है। इस चित्त से भिक्षु अलौकिक बल विद्याओ (ऋद्धि, दिव्यश्रोत, परचित्त का ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति, दिव्यचक्षु अभिज्ञाओं) के प्रदर्शन में सक्षम हो जाता है। परन्तु इनकी प्राप्ति और प्रदर्शन भिक्षु का ध्येय नहीं होता है। यह ध्यानाभ्यास से उत्पन्न स्वाभाविक सक्षमता है।

सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और ध्यानाभ्यास की परिणति समाधि में होती है। कुशलचित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहा गया है (दे० विसुद्धिमग्ग-५७)। समाधि की भावना से चित्त विशुद्ध हो जाता है। चित्तविक्षेप का विनाश हो जाता है और चित्त

अविक्षेपित रूप से शान्त और एकाग्र रहता है। समाहितचित्त किसी विषय पर समान और सम्यक् रूप से एकाग्र होकर लगता है और विषय के स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। समाहितचित्त प्रज्ञा का आधार है।

प्रज्ञा—प्रज्ञा इस मार्ग की अन्तिमावस्था है। इस अवस्था में भिक्षु प्रज्ञा की भावना करता है। वह अपने चित्त को भौतिक वस्तुओं और अभौतिक धर्मों पर लगाता है और उनके स्वरूप को ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया को 'विपस्सना भावना' कहा गया है। यह ध्यान से भिन्न है। ध्यान भावना को 'समथभावना' भी कहा जाता है; क्योंकि यह भिक्षु को विपस्सना भावना के लिये समर्थ बनाती है। समथभावना का विषय भौतिकाभौतिक (रूपारूप) वस्तुए होती हैं, परन्तु 'विपस्सनाभावना' का विषय ज्ञान है।

विपस्सना भावना से उत्पन्न विशुद्धिचित्तवालों का ज्ञान ही प्रज्ञा है—"कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा" (दे०, विसुद्धिमग्ग, ३०८)। यह प्रज्ञा भौतिकाभौतिक वस्तुओं में उत्पन्न होती है; अतः इन्हें प्रज्ञाभूमि कहा गया है। प्रज्ञा ज्ञान से भिन्न है। इनकी भिन्नता इनके स्वरूप या भूमि को लेकर नहीं है, बल्कि इनके साधन और सक्षमता को लेकर है। प्रज्ञा की तरह ज्ञान में भी विषय के संज्ञाभाव को जानने (सञ्जानन) और विषय के स्वस्वरूप को ग्रहण करने (विजानन) की क्रिया होती है, पर ज्ञान में लोकोत्तर भूमि में प्रविष्ट कराने की क्षमता नहीं है। चूँकि प्रज्ञा विशुद्धचित्तवालों का और 'विपस्सना' से उत्पन्न ज्ञान है, अतः इसमें वह सक्षमता है। इसी सक्षमता के कारण प्रज्ञा ज्ञान से भिन्न है।

प्रज्ञा के उदय होते ही विषयों के स्वस्वरूप को आच्छन्न रखनेवाले अज्ञान का नाश हो जाता है, और इनके अनित्य अनात्म और दुःख स्वरूपता का ज्ञान हो जाता है। पर यह ज्ञान मूलतः 'विपस्सना-भावना' से ही उत्पन्न नहीं होता है। इस ज्ञान का परिचय भिक्षु को धर्मोपदेश या स्वचिन्तन द्वारा ही मिल जाता है। यह ज्ञान-परिचय ही दृष्टि को सम्यक् बनाता है और व्यक्ति भिक्षु जीवन को अपनाने के लिये कृत संकल्प होता है। यही कारण है कि प्रज्ञा (सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प) को आष्टाङ्गिक मार्ग में प्रथम स्थान मिला है। यह ज्ञान-परिचय धीरे धीरे शील के पालन और समाधि की भावना द्वारा परिपक्व और स्वानुभूत होता जाता है। शील विशुद्धि और चित्त विशुद्धि को प्रज्ञा का मूल कहा गया है। 'विपस्सना भावना' द्वारा स्वानुभूत ज्ञान अन्तिम रूप से विशुद्ध हो जाता है। इस क्रम में पाँच प्रकार की विशुद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये विशुद्धियाँ ही प्रज्ञा का शरीर (दे० विशुद्धि मग्ग ३०९) हैं। ये विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं।

१. दिट्ठि विसुद्धि—पुद्गल (जीव) के विलक्षण भाव के प्रति दृष्टि विशुद्ध हो जाती है।

२ क्खा वितरण विसुद्धि—तीनों कालो में पुद्गल के त्रिलक्षण भाव के प्रति सशय मिट जाता है।

३ मग्गामग्गञ्ञाणदस्सन विसुद्धि—मार्ग अमार्ग का ज्ञानदर्शन विशुद्ध हो जाता है।

४ पटिपदाञ्ञाणदस्सन विसुद्धि—पुद्गल के उदय विनाश आदि का ज्ञान दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

५ ञाणदस्सन विसुद्धि—ज्ञान-दर्शन के प्रति आसक्ति मिट जाती है और लोकोत्तर भूमि के मार्गफल का ज्ञान दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

'पटिपदाञ्ञानदस्सन विसुद्धि' तक भिक्षु साधारणजन (पुथुजन) की श्रेणी में रहता है। यहाँ उसे 'गोत्तभूञाण' उत्पन्न होता है और उसकी श्रेणी बदल जाती है। वह लौकिक से लोकोत्तर भूमि में पहुच जाता है और आर्य कहलाने लगता है। यह परिवर्तन मानसिक स्तर पर होता है। यहाँ उसकी भावना का विषय निर्वाण हो जाता है।

लोकोत्तरभूमि को चार अवस्थाओं में बाँटा गया है—सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी और अरहन। मार्ग-फल की दृष्टि से इनकी आठ अवस्थाये भी मानी जाती हैं। भिक्षु इन अवस्थाओं को पार करते हुए दस सयोजनों (ससार मे बाँधने वाले बन्धनों) को काटता है। प्रथम तीन (सक्काय दृष्टि, विचिकिच्छा, सीलब्बतपरामास) को काटकर भिक्षु सोतापत्तिफल को प्राप्त कर लेता है। यहाँ उसका निर्वाण निश्चित हो जाता है और अधिक से अधिक सातवे जन्म तक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। बाद के दो (कामराग और पटिघ) को दुर्बल कर सकदागामी बन जाता है। वह अधिक से अधिक दूसरे जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इन्हीं दो को काटकर वह अनागामी बन जाता है। उसे इस लोक मे पुन' जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है। वह अन्यलोक मे ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। शेष पाँच (रूपराग, अरूपराग, मान, उद्धच और अविज्जा) को काटकर वह अर्हत् बन जाता है।

अर्हत् का ज्ञानदर्शन विशुद्ध हो जाता है। उसे 'आसवक्खयञाण' (चित्तमलों के क्षय का ज्ञान) हो जाता है। वह अपनी विमुक्ति को जान लेता है और उसे ऐसा भान होता है—

'खीणा जाति, वुसित ब्रह्मचरिय, कतकरणीय, नापर इत्थत्तायाति'—पुनर्जन्म का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करने योग्य कर लिया गया, पुन यहाँ जन्म ग्रहण करना नहीं है (दे० दीघ०, भा० १, ७३)।

(ख) व्यावहारिक पक्ष

बुद्ध का धर्म भिक्षुधर्म था। इसके पालन के लिये भिक्षु बनना अनिवार्य था। बुद्ध ने गृहस्थ-जीवन को बाधक, धूलधूसरित कहा है। गृहस्थ रहते हुए ब्रह्मचर्य का पालन आसान नहीं है। प्रव्रज्या खुला आकाश है। अतः प्रत्येक इच्छुक गृहस्थ को सर्वप्रथम धनसम्पति सगे संबन्धी आदि को छोड़कर भिक्षु बनना पड़ता है (दे०, दीघ० भा० १, ५५)।

सांसारिक जीवन को तिलाञ्जलि देनेवाले भिक्षुओं को शरीरोत्पीड़न और उसकी अवहेलना की ओर प्रवृत्त होने से रोकने के लिये बुद्ध ने शरीर को स्वस्थ बनाये रखने पर जोर दिया। तदर्थ उन्होंने चार आवश्यक चीजों के समुचित व्यवहार का विधान किया। ये चीजें हैं— चीवर, भोजन, शयनासन और भैषज। इन्हें प्रत्यय कहा जाता है; क्योंकि ये भिक्षुओं के लिये आवश्यक हैं, ये भिक्षु जीवन के आधार हैं। इन्हीं के आश्रय से भिक्षु का जीवन है (दे० महावग्ग, ५५)।

बुद्ध ने इन प्रत्ययों के उद्देश्य और आकार प्रकार को भी भली-भाँति स्पष्ट किया। विनय और निकायों में इनके सम्बन्ध में अनेक नियमों का विधान है। मज्झिम निकाय में इनके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भली-भाँति समझ-बूझकर भिक्षु उतना ही चीवर का व्यवहार करता है, जितना कि सर्दी-गर्मी से बचने के लिये, कीटादि के आघात से बचने के लिये, लोक लज्जा के निवारण के लिये आवश्यक है (दे० मज्झिमनिकाय भा० १ पृ० १४-१५)। भिक्षु भोजन का सेवन क्रीड़ा-मद, मण्डन एवं विभूषण के लिये नहीं करता है; बल्कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिये एवं जीवन यापन के लिये करता है। वह उतना ही भोजन सेवन करता है, जितना ब्रह्मचर्यपालन के लिये, पुरानी वेदनाओं के शमन और नयी वेदनाओं के उत्पन्न न होने के लिये आवश्यक है। जितने से उसका बैठना उठना आदि निर्द्वन्द्व और सुखकर होता है। भिक्षु शयनासन का व्यवहार ऋतु की पीड़ा को दूर करने के लिये और एकान्त भावना के चिन्तन हेतु करता है। भिक्षु पथ्य और भैषज का व्यवहार उत्पन्न व्याधि एवं पीड़ाओं से आरोग्य लाभ के लिये करता है।

इन प्रत्ययों के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में विनय (दे० महावग्ग १००) में कहा गया है कि चीवर फटे पुराने फेंके हुए कपड़ों (पंसुकूलचीवरं) का बना होना चाहिये। भिक्षा रूप में पात्र में गिरा पिण्ड ही विहित भोजन है—(पिण्डियालोपभोजनं)। वृक्ष के नीचे निवास (रुक्खमूलसेनासनं) और गोमूत्र की बनी औषधि (पूतिमूत्तभेसज्जं) ही विहित है।

बुद्ध रूढ़िवादी नहीं थे। उन्होंने इन प्रत्ययों के पालन में अनुभूत कठिनाइयों एवं स्थान

और काल की आवश्यकताओं के अनुसार अन्य नियमों का विधान कर भिक्षुओं को बहुत-सी सुविधायें दीं। भिक्षु लोग विशेष अवसर पर अकेले या संघ के साथ गृहस्थों के घर भोजन कर सकते थे। गृहस्थों से नये कपड़े का बना चीवर स्वीकार कर सकते थे। विहार आदि में रह सकते थे। औषधि में घी, मक्खन, मधु आदि भी व्यवहार कर सकते थे। (दे० महावग्ग, ५५, १००)।

यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि तत्कालीन बौद्धसंघ में वैसे भिक्षुओं की कमी नहीं थी, जो इन प्रत्ययों में भी अपनी इच्छा का संवरण नहीं कर पाते थे और अनुचित ढंग से इनका व्यवहार करते थे। वैसे भिक्षु भी थे, जो तत्कालीन धार्मिक साम्प्रदायिकों की देखादेखी इन प्रत्ययों का अनुचित लाभ उठाते थे। इन भिक्षुओं के आचरण को नियन्त्रित करने के लिये बुद्ध ने अनेक नियमों का विधान किया। इन नियमों का सविस्तार उल्लेख विनय में दिया गया है। प्रस्तुत निबन्ध के विषय को ध्यान में रखते हुए आजीविका सम्बन्धी कुछ नियमों का उल्लेख करना आवश्यक है।

भिक्षुओं को मुख्यत भिक्षा द्वारा ही भोजन प्राप्त करना पड़ता था। वे भोजन के लिये 'सपदानचारिका' करते। मध्याह्न के पूर्व वे ग्रामों में जाते थे और बिना ऊँच-नीच अमीर-गरीब आदि के भेदभाव के क्रमश एक घर के बाद दूसरे घर के सामने से चुपचाप गुजरते हुए भिक्षा लेते थे। जब उनके खाने के लिये पर्याप्त भोजन एकत्र हो जाता था तब वे लौट जाते थे। वे मध्याह्न तक भोजन समाप्त कर लेते थे। उनमें विकाल भोजन का नियम नहीं था (दे० दीघ० भा० १, ५५)।

भिक्षाटन के समय अन्य नियमों का भी पालन करना पड़ता था। भिक्षा के लिये किसी प्रकार की अलौकिक बलविद्या का प्रदर्शन करना मना था। इस तरह के प्रदर्शन करने वालों को संघ से निर्वासन का दण्ड मिलता था। दीघनिकाय (दे० दीघ० भा० १, ५९-६२) में बुद्ध ने तत्कालीन साम्प्रदायिकों द्वारा आजीविकोपार्जन के लिये ज्योतिष आदि विद्याओं का सहारा लेने और गृहस्थों के घर धार्मिक अनुष्ठानादि करने का भर्त्सना की और भिक्षुओं को इनसे विरत रहने का आदेश दिया। बुद्ध स्वयं शिक्षा देने के बाद मिली भिक्षा को स्वीकार नहीं करते थे (दे०, खुद्दकनिकाय, भा० १, २८२)। वैसी भिक्षा को वे पारिश्रमिक समझते थे। गृहस्थों द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर वे सदा भोजनोपरान्त ही गृहपति को धर्मोपदेश देते थे।

भिक्षा के लिये मध्यस्थ या संवादवाहक का काम करना मना था। इस तरह के काम करनेवालों को संघ की ओर से कुछ समय के लिये परिवास (संघनिकाला) का दण्ड मिलता था।

अपने किसी आश्रमिक भिक्षु को अर्हत् बतलाकर उसके नाम भिक्षा माँगना बड़ा अपराध समझा जाता था। भिक्षा के समय किसी प्रकार से इच्छा प्रकट करना या करवाना भी मना था। रोगावस्था को छोड़ अन्य समय में अच्छी-अच्छी वस्तुओं को माँगकर खाने से भिक्षु को प्रायश्चित का दोष लगता था। रोगावस्था को छोड़ अन्य समय भात आदि साधारण वस्तुओं को भी माँग कर खाना मना था। माँगकर खानेवाले भिक्षु को दुष्कृत का दोष लगता था। (दे० परिवार, २५ ९, दे० विसुद्धिमग्ग १५)।

आजीविकोपार्जन के सम्बन्ध में इस तरह की शुद्धता बरतनेवाले भिक्षु भिक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेद अनुचित मानते थे। पेट भरने के लिये भोजन चाहिये : अतः वे भिक्षा में आमिष भोजन मिलने पर भी स्वीकार करते थे। अनायास ही मिले आमिष भोजन को ग्रहण करने में दोष नहीं मानते थे। गृहस्थों के घर भोजन के लिये आमंत्रिन किये जाने पर भी वे वहाँ आमिष-निरामिष का भेद नहीं करते थे। आमिष भोजन भी खा लेते थे। पर इस हालत में उन्हें विशेष सावधानी बरतनी पड़ती थी। अगर जीवों का वध उनको खिलाने के लिये किया गया रहता था, तो वे उस मांस को अखाद्य समझते थे। और, अगर बाजार से बना हुआ मांस खरीद कर पकाया गया रहता था, तो वे उसे खाने योग्य मानते थे। तदर्थ बुद्ध ने यह विधान किया था कि जान बूझकर अपने लिए बने मांस को नहीं खाना चाहिये, जो खाये उसे दुष्कृत का दोष होगा। भिक्षुओ! (अपने लिये वध किए जीव को) देखे सुने सन्देह करे—इन तीनों बातों से शुद्ध मछली और मांस को खाने की अनुमति देता हूँ (दे० महावग्ग २५३)।

(ग) समीक्षा—आमिपाहार के प्रति अपने व्यक्तिगत विचारों से ऊपर उठकर, बुद्ध के सिद्धान्तों एवं व्यावहारिक पक्ष की पृष्ठभूमि में बौद्ध भिक्षुओं के आमिषाहार की परीक्षा करें तो यह उनके लक्ष्य एवं मार्ग के अनुरूप और युक्तिसंगत प्रतीत होगा। बुद्ध के समक्ष मुख्य प्रश्न आमिष-निरामिष का नहीं, बल्कि भिक्षा में भेद बरतने का था। भेद-भाव से इन्द्रियों को प्रश्रय मिलता है और उनके लिये प्रिय विपय तैयार होता है। अपने प्रिय विषयों में इन्द्रियाँ आनन्द लेती हैं और उसी तृष्णा को दृढ़ करती हैं, जिसके निरोध के लिये भिक्षु-जीवन ग्रहण किया जाता है। अतः भेद करने से भिक्षु जीवन का लक्ष्य ही असफल होता है। शील, समाधि और प्रज्ञा की भावना द्वारा ज्ञान दर्शन विशुद्धि की प्राप्ति का लक्ष्य प्रारम्भ में ही असफल हो जाता है। क्योंकि सभी परिस्थितियों में मांस का निषेध करने की दृष्टि के प्रति आसक्ति पैदा होती है। लोकोत्तर भूमि में प्रवेश के साथ ही भिक्षु का यह प्रयास होता है कि शीलव्रतों में जो आसक्ति है, उसे काट दे।

पुनः बुद्ध ने कार्यों के कायिक-वाचिक सम्पादन से अधिक जोर उनके पीछे छिपे हेतुओं पर दिया है। लोभ, द्वेष और अज्ञान-हेतुओं से प्रेरित कार्य ही अकुशल होता है। मांस स्वीकार करने के पीछे किसी अकुशल हेतु की प्रेरणा नहीं बल्कि भोजन के प्रकार के प्रति उपेक्षा भाव रखना ही उनका ध्येय था। चूँकि उनकी भावना शुद्ध थी, अतः मांस स्वीकार करने में दोष नहीं मानते थे। फिर भी वे अनायास मिला मांस ही खाते थे। इस तरह के मांस को अस्वीकार करने पर भी पशुओं का कोई कल्याण नहीं हो सकता था। उनकी स्वीकृति का भी कोई सम्बन्ध जीवों की हिंसा से नहीं था, क्योंकि ये भिक्षु बिना पूर्व सूचना के गृहस्थों के घर भिक्षा के लिये जाते थे।

पुनः बुद्ध ने भिक्षुओं को समाज से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद के लिये उत्साहित नहीं किया। धर्मचक्रप्रवर्तन के शीघ्र ही बाद उन्होंने भिक्षुओं को आदेश दिया था कि 'भिक्षुओ! बहुतों के हित के लिये, बहुतों के सुख के लिये लोकानुकम्पा से विचरण करो।' समाज से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये ही भिक्षु विहारों और आश्रमों को वैसी जगहपर बनवाते थे, जहाँ ग्राम-वासियों के साथ सहज सम्बध हो सकता था। भिक्षु अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिये ग्राम-वासियों पर ही आश्रित थे। अतः यह उनके आदर्श के अनुकूल ही था कि वे उन ग्रामवासियों की सुविधाओं की ओर भी ध्यान रखें। बुद्ध ने स्वय समाज को ध्यान में रखते हुए भिक्षुओं के लिये अनेक नियमों का विधान किया था। भेद बरतने से गृहस्थों को असुविधाये हो सकती थीं, क्योंकि ये भिक्षु बिना किसी सूचना के, बिना किसी भेदभाव के सभी घर भिक्षा के लिये चले जाते थे और पकापकाया भोजन ही लेते थे। अभेद बरतने से गृहस्थों की कठिनाइयाँ कुछ हद तक दूर हो गयीं और धार्मिक कार्य के लिये सभी को समान अवसर प्राप्त होने लगा। गरीब अमीर, ऊँच नीच सभी तरह के लोग भिक्षुओं को पकापकाया आमिष-निरामिष भोजन देकर पुण्य और संतोष लाभ करते थे।

बुद्ध के जीवन काल की यह प्रथा, थेरवाद के विस्तार के साथ-साथ लंका, वर्मा आदि देशों में भी फैल गयी। ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म के प्रवेश के समय इस प्रथा के प्रति वहाँ के देशवासियों में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हुई होगी, कारण वे लोग भी प्रायः आमिषाहारी थे। फिर उनके यहाँ अपना कोई धर्म भी नहीं था। मांसाहारी भारतीय भिक्षुओं को वहाँ के देश-वासियों के साथ हिलने मिलने और धर्म प्रचार में विशेष सुविधाये मिली होंगी। खानपान की छूट के कारण वहाँ के लोगों को भी धार्मिक जीवन बिताने में विशेष असुविधाये नहीं हुई होगीं।

बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद भी आमिषाहार की प्रथा वहाँ स्वभावतः चलती रही। आज

भी उन देशों के गृहस्थ भिक्षुओं को निर्विकार रूप से आमिष भोज्य-पदार्थ दान में देते हैं। भिक्षु स्वयं जीवों का वध नहीं करते हैं और न विहारों में जीवों का वध होता है। जहाँ विहारों में भोजन बनने का प्रबन्ध है, वहाँ आमिष वस्तुएँ बाजार से खरीद कर आती हैं। सभी कामों के लिये गृहस्थ या नौकर होते हैं।

आमिषाहार की प्रथा अब रूढ़ हो गयी है, फिर भी इसके पीछे जो आदर्श था, उसे भिक्षुलोग निभाते जा रहे हैं।

गोपालविजय का प्रेमधर्म

दुर्गेशचद्र चन्द्रोपाध्याय

बगला साहित्य में गोपालविजय का महत्वपूर्ण स्थान है। सोलहवीं शती के मध्यभाग में इसकी रचना हुई। कविशेखर देवकीनदन सिंह इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म १५वीं शती के अतिम भाग मे हुआ था। ये श्रीचैतन्यदेव के समसामयिक थे। उस समय चैतन्यदेव का प्रभाव इतना नहीं पड़ा था और न उनका भक्तिवाद ही प्रचारित हुआ था। अतएव गोपालविजय मे चैतन्यदेव का कोई उल्लेख या उनके द्वारा प्रचारित भक्तिवाद का कोई प्रभाव प्राप्त नहीं होता। चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती युग के वैष्णव-धर्म का स्वरूप इस ग्रथ में मिलता है।

गोपालविजय कृष्णायन काव्य है। चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती युग में कृष्णलीला के आस्वादन की दो धाराएँ लक्षित होती हैं। पहली धारा में कृष्ण के ऐश्वर्य एव भगवत्ता के ऊपर विशेष जोर दिया गया है, एव दूसरी धारा मे वृदावन लीला के अतर्गत शृगार रसात्मक वर्णन प्राप्त होता है। जयदेव, विद्यापति एव चण्डीदास ये तीन कवि दूसरी धारा के कवि हैं। क्योंकि इनकी रचनाओं में वृन्दावन लीला के गोपी प्रेम का वर्णन ही प्रधान है। किन्तु कविशेखर देवकीनदन सिंह कृत गोपालविजय में गगा-यमुना का मिलन हुआ है अर्थात् इस ग्रथ में श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य और शृगार लीला एक साथ सुस्पष्ट रूप मे मिलते हैं।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कध की कथावस्तु का अवलवन लेकर इस ग्रथ की रचना हुई है। ग्रथ अनेक मौलिक उद्भावनाओं से विशेष समृद्ध है। श्रीमद्भागवत में जिस प्रेमधर्म की घोषणा की गई है, उसी की विजय घोषणा गोपालविजय मे की गई है। इस प्रेमधर्म का परिचय 'गोपालविजय' मे निहित निम्न-वर्णित एक प्रमुख उपाख्यान से प्राप्त होगा।

एक दिन कृष्ण यमुना तट पर गायों को छोड कर अपने सखाओं के साथ खेलते-खेलते बहुत दूर चले गए। गोप बालक चलते-चलते इतने क्लान्त हो गए थे कि वे और नहीं चल सकते थे, यहाँ तक कि उन्हे बात करने में भी कष्ट हो रहा था। बालकों की यह दशा देख कर श्रीकृष्ण के मन में बडी दया उत्पन्न हुई। उन्होने दो सखाओं को बुला कर कहा,—"थोड़ी ही दूर, ब्राह्मणों की एक बस्ती दिखाई पड रही है, वहाँ ब्राह्मण लोग यज्ञ-कार्य में रत हैं। तुम लोग वहाँ जाकर मेरा नाम बतलाकर अन्न के लिए प्रार्थना करना। तुम्हारी बाते सुन कर वे लोग अवश्य ही हम सब के लिए भोजन भेजेगे।" कृष्ण की ये बाते सुन कर बालक बहुत आनन्दित हुए। उसी समय वे लोग बस्ती की ओर रवाना हुए। कृष्ण के सखा लोग यज्ञशाला

में पहुंचे। उन्होंने कृष्ण का नाम बताकर ब्राह्मणों से भोजन देने के लिए प्रार्थना की, किन्तु ब्राह्मणों ने बालकों की बातों पर किंचित भी ध्यान नहीं दिया, बल्कि उपहास करते हुए कहा,—"कहाँ का कृष्ण? वह कौन है! जिसे यज्ञ का अन्न देना पड़ेगा? ग्वाल को यज्ञान्न देने से उसकी सार्थकता ही क्या है?" ब्राह्मणों के ये व्यंग्य सुन कर बालक हताश होकर कृष्ण के पास लौट आए। कृष्ण ने बालकों से समस्त वृत्तान्त सुना एवं हँसते हुए कहा,—"इस बार तुम लोग द्विजनारियों के पास जाओ।" कृष्ण के कथनानुसार वे लोग द्विजाङ्गनाओं के पास गए और कृष्ण का नाम बताकर उन्होंने अन्न-दान के लिए प्रार्थना की। कृष्ण का नाम सुनते ही नेत्रों में प्रेमाश्रु भरकर बोलीं—"स्वयं लक्ष्मीनाथ ने अन्न मँगवाया है! हम कितनी सौभाग्यशालिनी हैं। उस समय उन लोगों ने कृतकृत्य अनुभव करके गोप बालकों को परम परितृप्ति के साथ भोजन कराया। तत्पश्चात् वे द्विजरमणियाँ शीघ्र ही एकत्रित होकर गोपबालकों के साथ सोने की थालियों में भाँति-भाँति के व्यंजन सजा कर कृष्ण के पास जाने के लिए बन की ओर चलीं। उस समय उनके मन में कुलमान, लोकलज्जा या भय की कोई बात ही नहीं थी। बन में वे कृष्ण को हठात सम्मुख देख कर प्रेमाकुल हो उठीं। कृष्ण के निकट आकर नीरव खड़ी हो गईं, कृष्ण ने उनसे पूछा—

'कुल बधु हञाँ केन्हे छाड़ कुलाचार।
कि लागि करह दुई कुलेर खाँखार॥
स्वामि-अगोचरे केन्हे कैले हेन काजे।
गुरुजन तोमादेर चाहिबे कोन लाजे॥
भाल हइलो आमा-सने कैले सम्भासे।
यावत ना जाने केहो जाह निज वासे॥'

अर्थात् कुलवधू होकर कुल की रीति क्यों छोड़ रही हो। दोनों कुलों को बदनाम क्यों कर रही हो? तुम लोगों ने स्वामी के न जानते हुए ऐसा कार्य क्यों किया? गुरुजन तुम्हें कैसे वापिस लेंगे। अच्छा हुआ कि तुमने मुझसे बातचीत की। इसके पूर्व कि कोई यह बात जाने, अपने-अपने घर वापिस लौट जाओ। कृष्ण के द्विजनारियों की इस भाँति मृदु भर्त्सना करने पर उनके नयन युगल से निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी। दीर्घनिःश्वास छोड़ती हुई, रोती हुई द्विजनारियों ने कृष्ण से कहा,—"तुम्हीं तो सबके प्राण हो, जीवन के जीवन, और सब कुछ तो माया है। ब्रह्मा जिन्हें ध्यान में प्राप्त नहीं कर सकते, हमने आज उन्हीं परमेश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन किए। आज हमारा परम सौभाग्य है।" कृष्ण से उन्होंने आगे कहा—

'तुमि स्वामी पुत्र मित्र वधु परिजन।
तोमा वहि आर केहो नाहिक शरन॥
आर मोके सभे छाड् तारे नाहि भए।
सबे तुमि रातुल पाओ नहिह निरदए॥
अनेक तपेर फले पाइल दरशन।
छाड़ाइले ना छाड़िव तोमार चरण॥
एत बलि सब नारी वेड़िलेक पाय।
हासिया दयाय किछु कहे यदुराय॥'

नारियों के इस प्रेमभक्ति दर्शन को देखकर कृष्ण ने हँसते हुए उनसे कहा—"तुम्हारी प्रेम-भक्ति से मैं अत्यन्त सतुष्ट हूँ। इतनी देर से तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। अब उठो, तुम लोग मेरे सर्वस्व हो, इसमें किंचित भी संदेह नहीं। सच्ची प्रीति होने पर दूर के विषय भी अति निकट हो जाते हैं, सूर्योदय होते ही कमल का मुकुलित होना इसी का निदर्शन है। जो मेरे प्रति अपने मन को केन्द्रित रखकर अपना कर्तव्य सम्पन्न करता है, मैं उसे कभी भी नहीं त्यागता।" इस भाँति नाना प्रसगों द्वारा सतुष्ट करके कृष्ण ने गोप बालकों के साथ द्विजनारियों को अपने-अपने घर की ओर जाने के लिए प्रेरित किया।

ब्राह्मण यह वृत्तान्त सुन कर हाहाकार करने लगे। अपने को धिक्कारते हुए कहने लगे,—"हमारा इतने दिनों का जप-तप, यज्ञ, उपासना सब कुछ व्यर्थ ही गया। सामान्य नारियों के समान ज्ञान भी हमें नहीं प्राप्त हुआ, ब्रह्मादि देवगण जिन्हे ध्यान, मन में नहीं देख सकते, उन्हीं परमेश्वर ने हमसे अन्न के लिए याचना करवाई, किन्तु पाण्डित्य के अभिमान में हम उन्हें पहचान नहीं पाए। साधारण ग्वाला समझ कर स्वय भगवान् को हमने गँवा दिया। नारियों का जीवन ही सार्थक है, उन्होंने उनको चिदानन्द-स्वरूप समझ कर सेवा की है। इतने दिनो के पश्चात् हमें ज्ञात हुआ कि भगवान् प्रेमाधीन हैं।" इस प्रकार ब्राह्मण लोग निरर्थक ही नाना प्रकार से अनुताप करने लगे।

ज्ञानप्रवण तात्त्विक द्विजगणों की बहुत दिनों की साधना विफलता में पर्यवसित हुई, एव भाव-प्रवणशीला द्विज-पत्नियों ने अनायास ही भगवत्-कृपा प्राप्त की—इसका पूर्ण परिचय इस उपाख्यान में मिलता है। ज्ञान एव भाव के समान प्राधान्य से युक्त एव परस्पर अनुकूल साधना के द्वारा जो तत्त्व निरूपित होता है, वही भक्ति शास्त्र का चरम सिद्धान्त है। इसी तत्त्व के अनुशीलन से ही द्विजपत्नियों ने भगवत् कृपा प्राप्त की एव कृतकृत्य हो गई। दूसरी ओर कहा जा सकता है कि केवल ज्ञान प्रवृत्ति के अनुयायी पण्डित द्विजगण भगवान् को

प्राप्त नहीं कर सके। इसी से प्रमाणित होता है कि भगवान् को केवल ज्ञान-बहुला-भक्ति से नहीं प्राप्त किया जा सकता। मनुष्य भगवान् की कृपा तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह ज्ञान एवं भाव के समन्वय साधना द्वारा विशुद्ध प्रेम अर्जित करे और मिथ्या अभिमान का परित्याग कर दे, एवं तृणवत् नमित् रह कर, भगवान् की गुणलीला श्रवण करते-करते उन्हीं को आत्म समर्पण कर दे। यज्ञकार्य में निरत तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग अहंकार शून्य नहीं हो पाए थे, वे केवल आचार अनुष्ठान के शास्त्रीय विवेचन में व्यस्त थे। उन्हें भक्तितत्त्व का ज्ञान नहीं था। इसीलिए वे लोग भगवत्कृपा से वंचित रह गए। भागवत्कार ने कहा है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भगवदीयवार्ताम्।
स्थानेस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
ये प्रयाशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

कर्मकाण्डी ब्राह्मणजन पांडित्य ज्ञान एवं अभिमान को त्याग नहीं सके थे, अतएव अपने निकट आए हुए अनुग्रह प्रार्थी स्वयं भगवान् को पहचान नहीं पाए। बाद में उन्हें अपनी धर्मान्धता एवं अविमृश्यता का बोध हुआ ; जिससे उन्हें अपरम्पार परिताप हुआ।

ब्राह्मणों की प्रवृत्ति ज्ञान-प्रधान थी अर्थात् उनमें पौरुष भाव था। ब्राह्मण जन भाव प्रधान प्रवृत्ति या नारीभाव अर्जित नहीं कर सके थे। इसी भाव को ही प्रेमलक्षणा-भक्ति कहा जाता है एवं यह भक्तिभाव नारी भाव में सम्भव हो सकता है, न कि पुरुष भाव में। वैष्णव-दर्शन में प्रेम को पंचम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। इसी प्रेम के आदर्श से जीवन को नियमित करना ही श्रेष्ठ साधना है। पश्चिम के मर्मी साधकों का भी ऐसा ही अनुभव है कि परिपूर्ण आत्मसमर्पण कभी भी संभव नहीं हो सकता है, यदि भगवान् की सेवा नारी भाव में न की जावे।

अतएव इसी नारी भाव या प्रेम धर्म के अभाव में कर्मकाण्डी द्विजगण भगवान् का कारुण्य-लाभ करने से वंचित रह गए थे। उदाहरणार्थ यह स्मरणीय है कि द्वादश आलवारों में श्रेष्ठ, आजीवन-ब्रह्मचारी प्रख्यात शठारि मुनि के प्रमाणस्वरूप "व्रजयुवतिगण ख्यातनीत्या", व्रजयुवतियों के प्रसिद्ध नीति के अनुसार, वासुदेव कृष्ण को प्राप्त करना चाहिए। श्रीकृष्ण के प्रति इसी भाव की द्विजरमणियों या शठारि मुनि की भाँति ही अहैतुकी या परा-भक्ति, अथवा व्रजगोपियों द्वारा परिचालित प्रेम-भक्ति की संज्ञा दी जाती है। इसी परा-भक्ति का अधिकारी होने मात्र से अनुष्ठानिक, जप, तप, यज्ञ इत्यादि विषयों की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

ज्ञानप्रवण प्रवृत्ति या पुरुषभाव अर्थात् अहकार जो एकनिष्ठ साधकों में भी कभी-कभी आ जाता है, इसका प्रमाण भी गोपालविजय में मिलता है। जिस राधिका ने कृष्ण प्रेम के लिए सर्वस्व त्याग किया था, उसी राधिका के मन में एक बार अहकार या पुरुषभाव उत्पन्न हुआ।

रास-रस के अभिलाषी कृष्ण ने एक दिन मधुर मुरली बजाई। उस ध्वनि को सुन कर राधा आदि गोपियाँ वृन्दावन में कृष्ण से आ मिलीं। कृष्ण ने नवनिर्मित वृन्दावन के तरुलताओं से गोपियों को परिचित करवा कर रासमडप में प्रवेश किया। गोपियों के साथ कृष्ण ने रासमच पर नृत्य आरभ किया, लेकिन गोपियों का मन उससे तृप्त नहीं हुआ, क्योंकि कृष्ण अकेले थे और गोपियाँ अनेक थीं। कृष्ण गोपियों का भाव समझ कर, जितनी गोपियाँ थी, उतने ही रूप धारण कर दो-दो गोपियों के बीच खड़े हो गए। प्रत्येक गोपी ने समझा कि कृष्ण उसके पास हैं। इस प्रकार रासनृत्य समाप्त होने पर कृष्ण ने अपने रूपो को सहृत कर लिया। उसके बाद गोपियाँ अपने-अपने घर लौट गई। किन्तु राधा कृष्ण के इस व्यवहार से अत्यन्त क्षुब्ध हुई एव कृष्ण का साथ छोड़ कर अकेली निर्जन स्थान में चली गई। राधिका ने सोचा था कि कृष्ण केवल उसी के हैं, एकमात्र वही कृष्ण प्रेम की अधिकारिणी हैं, किन्तु भगवान् तो भक्तवत्सल हैं और प्रत्येक भक्त के लिए उनका मन व्याकुल रहता है, यह बात अज्ञान के कारण राधिका की समझ में नहीं आई। जब कोई भगवान् को सच्चे हृदय से याद करता है, तब उसके पास गए बिना वे नहीं रह सकते। भगवान् के साथ जीव के इस नित्य सबध को राधिका भूलकर अज्ञानता-पाश में बँध गई। अपने को उन्होंने अन्य गोपियों से भिन्न समझा, उस समय वे अपने ही गौरव में भूली हुई थीं। आत्मचेतना ने राधिका को विमूढ़ कर डाला था। भगवान् के सामीप्य लाभ से राधा को वचित होना पड़ा, क्योंकि उनके मन से समता ज्ञान, ऐक्य बोध, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' आदि भाव समाप्त हो गए थे। इसके बाद गोपियों के साथ उनका पहले जैसा सबध नहीं रहा। उन सबसे अलग होकर राधिका स्वतन्त्ररूप से निर्जन स्थान में रहने लगीं।

कृष्ण ने गोपियों की मनोकामना पूरी करने के बाद जब राधिका से मिलना चाहा तब उन्होने देखा कि राधिका कहीं नहीं हैं। प्रत्येक कुज में उन्होने राधिका का अन्वेषण किया पर राधा कहीं भी न मिलीं। जब भक्त परिदृश्यमान जगत् के माया मोह में आत्मविस्मृत हो जाता है तब भगवान् स्वय उसको सावधान करने की चेष्टा करते हैं। वे वशी-ध्वनि से जीव को बुलाया करते हैं, ताकि अविद्यापाश को छिन्न कर वह तद्गत चित्त हो, इसीलिए राधिका रूपी परम भक्त के सान्निध्य के अभाव में भगवान् व्याकुल हो उठे। कृष्ण ने पूरा वृन्दावन छान डाला। किन्तु राधिका को कहीं भी न पाकर कृष्ण दुखित होकर एकाकी ही कदम्ब के नीचे

बैठकर राधिका के बारे में सोचने लगे। उन्होंने इसी समय कोकिल दम्पति को देखा एवं उनसे सहायता माँगी। कोकिल दम्पति ने कृष्ण की बातें सुनीं एवं 'कुहू-कुहू' ध्वनि करते हुए वृन्दावन की परिक्रमा करने लगे। वे जानते हैं, उनकी पुकार से विरही चुप बैठा नहीं रह सकता, अंत में वही हुआ। वृन्दावन के किसी निर्जन स्थान में जाकर उन्होंने पुकारना शुरू किया। उसी स्थान पर छिपी हुई राधिका 'कुहू-ध्वनि' से विचलित होकर, कोकिल दम्पति की भर्त्सना करने लगीं। राधिका का उद्देश्य समझकर कोकिल ने कोकिला को कृष्ण के पास संदेश देने के लिए भेजा। तब कृष्ण उस निर्जन स्थान में आए और नाना प्रकार से राधिका को समझाने की चेष्टा करने लगे, किन्तु अज्ञान से आच्छन्न राधिका तब भी आत्मविस्मृत रहीं। तब भी अहंकार या पुरुषभाव राधिका को घेरे रहा लेकिन कृष्ण चेष्टा करते रहे। भक्त का मोह से उद्धार करना ही भगवान् की एकमात्र चेष्टा होती है। जो लोग सोचते है कि भक्त भगवान् को पाने के लिये व्याकुल होता है, वे बड़ी भूल करते हैं। भगवान् भी भक्त के लिये व्याकुल होकर प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रसंग को रवीन्द्रनाथ की एक व्याख्या विशेषरूप से स्पष्ट करेगी। विख्यात कवि चण्डीदास के एक पद में कहा गया है—

ए घोर रजनी मेघेर घटा
केमने आइला वाटे।
आङ्गिनार माझे वँधुआ भिजिछे
देखिया परान फाटे॥

रवीन्द्रनाथ ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "भगवान् हमें कभी नहीं छोड़ते, पाप के घोर अंधकार में जब हम पड़े रहते हैं, तब भी भगवान् उस पापी के दुखभार को अपने सिर पर लेकर प्रतीक्षा करते हैं। संसार में आसक्त हम लोग संसार के असंख्य झंझटों को छोड़कर उनके पास नहीं जा सकते। वे दुर्गम पथ पर खड़े होकर हमारी प्रतीक्षा करते हैं। पापी के पास कंटकाकीर्ण पथ से आने के कारण उनके पैर क्षतविक्षत हो जाते हैं ; फिर भी वे हमें नहीं छोड़ते।"

कृष्ण को छोड़ कर राधा चली गईं ; फिर भी कृष्ण, राधिका को ठीक रास्ते पर लाने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएं करने लगे। लेकिन अहंकार से आच्छन्न या पुरुष भाव प्रधान— राधिका ने कृष्ण की काफी भर्त्सना करके कहा कि कृष्ण तुम्हारी बातें अमृत के समान होती हैं, किन्तु काम के समय इन बातों का कोई मूल्य नहीं रहता। तुम पके हुए महाकाल फल के समान हो अर्थात् बाहर से बहुत अच्छे लगते हो पर भीतर से मलिन हो। तुम भ्रमर-वृत्ति अपना कर रसास्वादन के लिए दिन-रात फूल-फूल पर घूमते रहते हो, और रसपान करने के बाद

उस फूल की कोई खोज खबर नहीं रखते। अच्छी बुरी गंध का विचार करने की क्षमता भी तुममें नहीं है। कभी कभी तो पद्म को छोड़ कर केतकी के पास जाते हो —

सब ठाकि विलसह कारो नह वश।
ना किछु देखिना भूल ना विचारे रस॥
हेन मते कृष्ण तुमि श्यामल सुंदर।
आचारे विचारे जेन द्वितीय भ्रमर॥

किन्तु, राधिका की इन उक्तियों में सत्य ही प्रकाशित हुआ है। क्योंकि कृष्ण सच्चे भक्त के लिए पके फल की तरह मधुर और अभक्त के लिए तिक्त या रूक्ष्म हैं। वे प्रत्येक जीवरूपी पुष्प के पास रस ग्रहण करने के लिए जाते हैं, किन्तु जब जीव अविद्याच्छन्न होता है तब उसके पास नहीं जाते। कृष्ण के पास किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है। छोटा-बड़ा, भला बुरा सब कुछ उनके अंश से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए उन्हें भक्ति के लिए किसी प्रकार के मापदंड की आवश्यकता नहीं पड़ती। फूल के सदृश जो उन्हें सहज भक्ति से पुकारता है, उसी के पास जाते हैं। यदि नीच चंडाल भी भक्त हो तो उसका भी वे आलिंगन करते हैं। राधिका की बात सुनकर कृष्ण ने कहा—

गुण पाइले परेहो ना परिहरे कभु।
दोषे ये क्षमिते पारे तारे वलि प्रभू॥

गुणशाली का गुण देख कर शत्रु भी सब कुछ भूल जाता है एवं जो दोषी को क्षमा कर सके वही शक्तिमान है। राधिका की सखियाँ, कृष्ण की बातों को सुनकर, राधिका की भर्त्सना कर कहने लगीं कि जिसके चरणों की सेवा करने के लिए स्वयं लक्ष्मी भी अति व्याकुल भाव से प्रतीक्षा करती है, ब्रह्मा भी जिसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर पाते, वही कृष्ण तुम्हारी इतनी विनय कर रहे हैं और तुम अभिमान के कारण आत्मविस्मृत हो गई हो। त्रिभुवन में कृष्ण दुर्लभ धन हैं, तुम्हारे पास आकर वही कृष्ण खुशामद कर रहे हैं, इतना होने पर भी तुम उनके प्रति निर्दय व्यवहार कर रही हो। यदि अब भी तुमने अपना मान नहीं छोड़ा, तो कृष्ण को कभी भी नहीं पा सकोगी। कृष्ण के बिना तुम्हारा जीवन व्यर्थ है, यदि कृष्ण कभी अन्याय भी कर बैठें तो उसे मन में नहीं लाना, क्योंकि—

जार विने जीते नारि तारे किवा रोषे।
आनल छाड़िल नहे गृहदाह-दोषे॥

आग से घर जल जाने पर भी आग का त्याग नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह नित्य प्रयोजनीय है। इसी प्रकार जिसका त्याग करने से जीवन धारण असंभव हो जाता है, उसके

प्रति रुष्ट होना अज्ञानता का कारण है। सखियों की बातों से राधिका का अभिमान कुछ प्रशमित हुआ, किन्तु राधा ने कृष्ण को लक्ष्य करके सखी से कहा कि कृष्ण का ऐसा ही स्वभाव है कि वे कमल का त्याग करके धतूरे की माला धारण करते हैं, वे मुक्ताहार फेंक कर गुञ्जाफल की माला पहनते हैं। कर्पूर चंदन छोड़ कर शरीर में धूल मलते हैं, हीरे के बदले उनकी रुचि स्फटिक पर है। कृष्ण, राधा की सब बातों को सुनकर, निरुपाय होकर, राधा का मान दूर करने के लिए उनके चरणों में गिर पड़े :—

तबे से शरण करि त्रिदशेर राय।
गोपवधू राधिकार चरणे लोटाय॥
हेर देख चिदानन्द गोविन्द महिमा।
से वेद वेदान्त जार ना पाइल सीमा॥
से कृष्ण पीरितिरसे राधिकाचरणे।
तभो पाय ठेलि गोपी पेले खने खने॥
कहे कविशेखर करिआ ऊर्ध्व बाहु।
प्रेमेसि पाइल कृष्ण साखि गोपबहु॥

भगवान् की कैसी अतुल महिमा है? वे आवश्यकता पड़ने पर भक्त के चरणों में भी पड़ने के लिए द्विधा बोध नहीं करते। गीतगोविन्द में भी इसी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। वहाँ पर भी हम देखते हैं कि राधिका का मान-भंजन करने के लिए कृष्ण ने राधा से कहा—

स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं
देहि पदपल्लवमुदारम्॥

भक्त के लिए भगवान् को सदैव इस प्रकार की व्याकुलता होती रहती है। भक्त तो भगवान् का ही अंश है, इसलिए अविद्याच्छन्न भक्त को विपथ से लौटाने के लिए वे किसी भी मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं।

मिलन के उपरान्त राधा कृष्ण दोनों ही वृन्दावन के पथ पर चलने लगे, किन्तु उस समय भी राधिका का अहंकार बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ था ; क्योंकि कृष्ण ने पैर पकड़ कर उनको मनाया था। राधाकृष्ण के साथ चल रही थीं, परन्तु उनकी गति में शिथिलता थी, वे अन्यमनस्क थीं—मानो कुछ अनिच्छा भाव (तन्द्रालस या दुर्बलता) हो। यह अवस्था देखकर कृष्ण ने कहा—

यबे वा एकान्त पथे चलिते ना पार।
सेवक-गेयाने मोर बोल एक धर॥

यने मोरे आपना करिया जान राधे।
आरोहन सफल कर मोर कान्हे ॥

कृष्ण, राधिका की मौन-सम्मति देख कर, उन्हें कंधे पर बैठाने के लिए प्रस्तुत हुए। भक्तकवि ने इसको लक्ष्य करके गाया है—

हेर देख प्रभूर भक्तवत्सलपना।
भक्तेर दास वलि वासये आपना ॥
ये देवचरण शिर धेयाने ना पाय।
ये देवेर प्रतिमा सेने देव-समाय ॥
से कृष्ण गोपीरे वहिवारे कान्ध पाते।
शुनिते शुनिते तिन लोके अद्भुते ॥

अहंकार से उन्मत्त होकर राधिका ने जब कृष्ण के कंधों पर चढ़ने के लिए अपने चरणों को उठाया, तब, राधिका के इस अहंकार को चूर्ण करने के लिए कृष्ण अन्तर्हित हो गए। कृष्ण को न देख राधिका हाहाकार करने लगीं, किन्तु कृष्ण का कोई उत्तर न पाकर राधिका की प्रकंपित देह वाताहत कदलीवृक्ष की भाँति अचेतन्य होकर धरती पर लोटने लगी।

जिस अहंकार या पुरुषभाव के उदय होने के कारण याज्ञिक ब्राह्मण कुटीरांगन भगवान् को भी नहीं पहिचान सके, ठीक उसी अहंकार के वशीभूत होकर राधिका भी कृष्ण का प्रेम प्राप्त नहीं कर सकीं। भक्त के मन में किंचित भी आत्मस्वातन्त्र्य अथवा अहंकार भाव होने पर भगवान् कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। अविद्या के समस्त आवरण जब तक छिन्न नहीं होते तब तक भगवत प्रेम प्राप्त करना असम्भव है। प्रेम भक्ति का अधिकारी होने के लिए आत्म विसर्जन परायणता आवश्यक है। धन-मान-लज्जा भय इत्यादि भक्तिपथ के अंतराय हैं। अविद्या के वश में होकर, संसार में आबद्ध प्रत्येक जीव, अहंकार या पुरुषभाव के ही कारण समझता है कि वह स्वतन्त्र है। अनुताप या पश्चाताप के कारण चित्त का मालिन्य दूर होने से कृष्ण राधा को पुन: दर्शन देते हैं, किन्तु यज्ञ में निरत द्विजगणों को पश्चाताप होने पर भी राजा कंस के डर से वे आत्म-समर्पण नहीं कर सके। इसके पूर्व ही कहा गया है कि लज्जा-भय-संकोच अभिमान इत्यादि के रहते भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणों को अनुशोचना होने पर भी वे आत्मसमर्पण नहीं कर सके थे, इसीलिए कृष्ण प्रेम से वे वंचित रह गए। इसीलिए भक्ति मार्ग का श्रेष्ठ पथ नारीभाव से उपासना करना है। इसीसे प्रेमभक्ति का अधिकार उत्पन्न होता है। पश्चिम के मर्मी साधक भी यह स्वीकार करते हैं।

अनु०—यु० कि० बहिदार

नन्दलाल वसु

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

स्पिनोजा तत्त्वज्ञानी थे, उनके तत्त्वचिंतन को उनके व्यक्तिगत परिचय से अलग कर के देखा जा सकता है। लेकिन यदि दोनों को मिला कर देखना संभव हो तो उनकी रचनाएँ हमारे लिये अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। समाज ने बचपन में ही उन्हें निर्दयतापूर्वक त्याग दिया था, लेकिन उन्होंने कठिन दुःख में भी सत्य को नहीं छोड़ा। सारा जीवन अर्थ-संकट में बीता ; फ्रांस के सम्राट लुइ चौदहवें ने एक मोटी रकम पेंसन के रूप में देने का प्रस्ताव किया था, शर्त यह थी कि अपनी एक पुस्तक वे राजा के नाम समर्पित करें। स्पिनोजा राजी नहीं हुए। उनके किसी मित्र ने मृत्यु के समय अपनी संपत्ति उनके नाम वसीयत कर दी थी, वह सम्पत्ति ले कर उन्होंने दाता के भाई को दे दी। वे तत्त्वज्ञानी थे और साथ ही मनुष्य भी ; इन दोनों को एक साथ मिला कर देखने से उनकी सत्य-साधना का यथार्थ स्वरूप दिखता है, और यह समझ में आ जाता है कि केवल तार्किक बुद्धि से ही उसका उद्भव नहीं हुआ था। उनके सम्पूर्ण स्वभाव द्वारा उसकी उपलब्धि और अभिव्यक्ति हुई है।

मैं समझता हूँ कि शिल्पकला और रसपूर्ण साहित्य में मनुष्य के स्वभाव के साथ उसकी रचना का संबंध शायद और भी घनिष्ट है। उन्हें सर्वदा एकत्र करके देखने का अवसर नही मिलता, यदि मिल जाय तो उसके कार्य की अकृत्रिम सचाई के संबंध में हमारी धारणा स्पष्ट हो सकती है। स्वभाव-प्रधान-कवि या स्वभाव-प्रधान-शिल्पी को हम केवल उसकी रचनाओं तथा हाथ के काम में देखते हैं, ऐसी बात नहीं, उन्हें तो उनके व्यवहार, उनकी दिनचर्या, उनके दैनिक-जीवन की भाषा और भंगी में देखते हैं।

हमारे देश के बहुत से लोग ही चित्रशिल्पी नन्दलाल वसु का नाम जानते हैं। निःसंदेह अपनी-अपनी रुचि, मिज़ाज़, शिक्षा और प्रथागत अभ्यास के अनुसार ही लोग उनके चित्रों पर विभिन्न प्रकार से विचार करते हैं। ऐसे क्षेत्र में कभी-भी मतैक्य नहीं हो सकता ; वस्तुतः विरोधिता ही बहुत बार श्रेष्ठता के प्रमाण के रूप में आ खड़ी होती है। किन्तु, नज़दीक रह कर, इस व्यक्ति को विभिन्न अवस्थाओं में अच्छी तरह जानने का सुअवसर मुझे मिला है। इस सुयोग के फलस्वरूप चित्रांकन करते हैं, उनकी मैंने पूरी श्रद्धा की है ; इसीलिए उनके चित्रों को भी श्रद्धा पूर्वक ग्रहण कर पाया हूँ। यह श्रद्धा जो दृष्टि देती है, वही दृष्टि प्रत्यक्ष की गहराई में प्रवेश करती है।

एक वार नन्दलाल को साथ लेकर चीन-जापान भ्रमण करने गया था। मेरे अंग्रेज

मित्र एण्ड्रूज साथ थे। उन्होंने कहा था, नन्दलाल का संग एक प्रकार की शिक्षा है। उनकी यह बात एकदम यथार्थ थी। नन्दलाल की शिल्प-दृष्टि अत्यन्त शुद्ध है, उनकी विचार-शक्ति अन्तर्दर्शी है। लोगों का एक दल ऐसा है, जो कला को कृत्रिम श्रेणी में सीमाबद्ध करके न देख सकने पर पथभ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार का देखना लँगड़े की लाठी टेक कर चलना है, एक बँधे हुए बाह्य-आदर्श को आधार मान कर दृष्टान्त से तुलना करके विचार करना है। इस प्रकार की परीक्षण-प्रणाली अजायबघर सजाने के काम आती है। जो चीज समाप्त हो गई, उसकी सीमा मिलती है, उसका सारा परिचय पूर्णरूप से संग्रह करना आसान है, इसीलिए विशेष प्रकार की मुहर लगा कर, उसे खानों में विभक्त किया जा सकता है। लेकिन जो कला अतीत-इतिहास के स्मृति-भण्डार की निश्चल वस्तु नहीं है, सजीव वर्तमान के साथ जिसकी नाड़ी का संबंध है, उसकी प्रगणना भविष्य की ओर है, वह चल रहा है, आगे बढ़ रहा है, उसकी संभूति समाप्त नहीं हुई है, उसकी सत्ता की पक्की दलील पर अंतिम हस्ताक्षर नहीं हुए हैं। कला के क्षेत्र में जो लोग सनातन-पंथी हैं, वे मृत का लक्षण मिला कर जीवित के लिए श्रेणी-विभाग वाला वातायनहीन कब्र का निर्माण करते हैं। नन्दलाल उस प्रकृति के व्यक्ति नहीं हैं, कला उनके लिए सजीव वस्तु है। उसे उन्होंने स्पर्श से, दृष्टि द्वारा और हृदय से समझा है, इसीलिए उनका संग शिक्षा (एडुकेशन) है। जिन्हें छात्र-रूप में उनके करीब आने का अवसर मिला है, उन्हें मैं भाग्यशाली समझता हूँ—उनका कोई भी ऐसा छात्र नहीं है, जिसने इस बात को अनुभव और स्वीकार न किया हो। इस संबंध में उन्होंने अपने गुरु अवनीन्द्रनाथ की प्रेरणा सहज ही अपने स्वभाव से प्राप्त की थी। उन्होंने कभी-भी छात्र की अन्तर्निहित शक्ति को बाहरी किसी सनातनी साँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं किया, उस शक्ति को उन्होंने उसके ही पथ पर मुक्त रखना चाहा एवं उसमें वे सफल हुए, इसीलिए वह मुक्ति स्वयं उनमें ही है।

कुछ दिन हुए, बम्बई में नन्दलाल ने अपने वर्तमान छात्रों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया था। यह सभी जानते हैं कि वहाँ पर एक स्कूल आफ आर्ट्स् है और शायद बहुत से लोग यह भी जानते हैं कि उस स्कूल के अनुयायी हमारे यहाँ के चित्रों के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हुए लिखा-पढ़ी करते चले आ रहे हैं। उन लोगों की शिकायत यह है कि हमने अपनी शिल्प-सृष्टि में एक पुरानी चाल की भाव-भंगी की सृष्टि की है, यह केवल सस्ते में आँखें भुलाने का फन्दा है वास्तविक जगत् का प्राण-वैचित्र्य उसमें नहीं है। हम लोगों ने पत्रों में कोई विरोध नहीं छपवाया,—चित्र प्रदर्शित किए गए। इतने दिन वे लोग जो कुछ कह कर निंदा करते आ रहे थे, उसका पूरा उल्टा प्रमाण उन्हें देखने को मिला। उन्होंने अद्भुत चित्र देखे,

जिनमें विचित्र चित्त की अभिव्यक्ति हो नहीं थी, दक्ष हाथों की छाप थी। उनमें न तो प्राचीनकाल की नकल थी, न आधुनिक काल की ; इसके अतिरिक्त किसी भी चित्र में चलतू बाजार दर की ओर संकेत भी नहीं था।

जिस नदी में प्रवाह कम रहता है, वह शैवाल-व्यूह रच लेती है, उसका सामने का रास्ता रुँध जाता है। ऐसे कलाकार-साहित्यिक बहुत से हैं, जो अपने अभ्यास और मुद्राभंगी द्वारा अपनी अचल सीमा की रचना कर लेते हैं। उनके कार्य में प्रशंसनीय गुण हो सकते हैं, लेकिन फिर वह मोड़ नहीं लेता, आगे नहीं बढ़ना चाहता, क्रमशः अपनी ही नकल आप करता रहता है, अपने ही कृतकर्म से वह निरन्तर चुराता रहता है।

नन्दलाल अपनी प्रतिभा के यात्रापथ पर अभ्यास के जड़त्व द्वारा सीमा-बंधन को किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकते, यह मैं जानता हूं। उनके अपने भीतर के इस विद्रोह को मैं बहुत दिनों से देखता चला आ रहा हूं। यह विद्रोह सर्वत्र सृष्टिशक्ति के अंतर्गत है। यथार्थ सृष्टि बँधी-बँधाई लीक पर नहीं चलती, प्रलयशक्ति निरन्तर अपना रास्ता तैयार करती रहती है। सृजन-कार्य में जीवनी-शक्ति की नन्दलाल की यह अस्थिरता प्रकृतिसिद्ध है। किसी एक अड्डे पर पहुंच कर फिर नहीं चलेंगे, केवल आराम कुर्सी पर बैठकर पैर हिलाएंगे, उनकी भाग्य-रेखा में यह नहीं लिखा है। यदि उनके लिए यह संभव होता तो बाजार में उनकी दुकान जम जाती। जो बँधे हुए ग्राहक हैं, उनकी विचार-बुद्धि अचल-शक्ति द्वारा खूँटे में बँधी हुई है। उनकी दर-जाँच-प्रणाली अभ्यस्त आदर्श को मिला कर बनी है। उस आदर्श के बाहर अपनी रुचि को त्यागने में उन्हें भय लगता है, उनकी पसन्द का परिमाण जनश्रुति के परिमाण पर निर्भर है। कलाकार के संबंध में जन-साधारण की पसन्द का अभ्यास जमने में समय लगता है। एक बार जम जाने पर फिर उस धारा का अनुवर्तन करने में कलाकार को खतरा नहीं रहता। लेकिन, जो आत्म-विद्रोही कलाकार अपनी तूलिका के अभ्यास को क्षण-क्षण बदलता है, और जो भी हो, हाट-बाजार में वह बार-बार ठगा जायगा। सो हो, बाजार में ठगा जाना अच्छा है लेकिन स्वयं ठगना अच्छा नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि नन्दलाल अपने को ठगने की अवज्ञा करते हैं, इसमें उन्हें नुकसान हो तो हो। अमुक पुस्तक या अमुक चित्र तक लेखक या कलाकार के उत्कर्ष की सीमा है—बीच-बीच में ऐसी आवाज बाजार में उठाई जाती हैं, प्रायः उसका अर्थ यही लगाया जाता है कि लोगों की प्राप्ति के नियमित अभ्यास के निर्धारण में बाधा पहुँचती है। जन-साधारण की पसन्द को पूरा करने का ठेकेदार होने का लोभ संवरण न कर पाने पर उस लोभ में पाप है, और पाप में मृत्यु। और जो भी हो, उस पाप लोभ की आशंका नन्दलाल को बिल्कुल नहीं है। उनकी लेखनी अपने अतीत को पीछे

छोड़कर चलने वाली पथिक है। शिल्प-सृष्टि का यात्रा-पथ तो उसी तरफ है, उसका अभिसार अन्तहीन के आह्वान में है।

कलाकार के स्वकीय आभिजात्य का परिचय उसके चरित्र और जीवन से मिलता है। नन्दलाल के स्वभाव में हम इसका प्रमाण बराबर पाते हैं। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि कला के प्रति उनकी पूर्ण निर्लोभ-निष्ठा है। विषय-बुद्धि की ओर यदि उनकी आकांक्षा की दौड़ रहती तो उस पथ पर पदोन्नति का उनके लिए काफी अवसर था। प्रतिभा के सच्चे दाम-ऊँचाई के परीक्षक इन्द्रदेव शिल्प-साधकों की तपस्या के सामने रजत नूपुर-निक्कण का मोहजाल फैलाए रहते हैं, सरस्वती का प्रसादस्पर्श उस लोभ से रक्षा करता है, देवी अर्थ के बन्धन से उद्धार कर सार्थकता का मुक्तिवर देती है। उसी मुक्तिलोक में नन्दलाल विराजते हैं, उन्हें कोई भय नहीं।

उनके स्वाभाविक आभिजात्य का एक और लक्षण दिखाई पड़ता है उनके अविचल-धैर्य में। मित्र के मुख से अन्यायपूर्ण निन्दा से भी उनकी प्रसन्नता क्षुण्ण नहीं होती, इसका दृष्टान्त देख चुका हूँ। जो उन्हें जानते हैं, ऐसी घटनाओं से वे ही दुःखित हुए हैं, लेकिन इन्होंने अति-सहज भाव से क्षमा कर दिया है। इससे उनका आन्तरिक ऐश्वर्य प्रमाणित होता है। उनका मन गरीब नहीं है। उनके व्यवहार से अपने समव्यवसायियों के प्रति ईर्ष्या भाव का आभासमात्र भी नहीं मिलता। जिसको जो देना है, उसे चुकाने पर अपना यश कम होने की आशंका ने उन्हें कभी छोटा नहीं बनने दिया। अपने और दूसरे के लिये वे सच्चे हैं, अपने को भी नहीं ठगते और दूसरों को भी वंचित नहीं करते। इससे देखता हूँ कि वे जिस प्रकार अपनी रचनाओं में शिल्पी हैं, उसी प्रकार अपने स्वभाव में भी शिल्पी हैं, क्षुद्रता की त्रुटि स्वभावतः कहीं नहीं रखना चाहते।

शिल्पी और मनुष्य के रूप को एकत्र मिलाकर मैंने नन्दलाल को निकट से देखा है। बुद्धि, हृदय, निपुणता, अनुभव और अन्तर्दृष्टि का इस प्रकार का समावेश कम ही देखा जाता है। उनके छात्र, जो उनसे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वे इस बात का अनुभव करते हैं, एवं उनके मित्र जो रोज़ संसार की छोटी-बड़ी अनेक-घटनाओं के बीच उन्हें देखते हैं, वे उनके औदार्य और चित्त की गंभीरता से उनकी ओर आकर्षित हैं। अपनी और उनकी तरफ से इस बात को जताने की मेरी आकांक्षा इस लेख में प्रकट हुई है। इस प्रकार की प्रशंसा की वे अपेक्षा नहीं रखते, किन्तु मैं अपने भीतर इसकी प्रेरणा अनुभव करता हूँ।

(बंगाब्द चैत्र १३४०) —अनु० द्विजराम यादव

आशीर्वाद

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पञ्चाश बछरेर किशोरगुणी नन्दलाल वसुर प्रति सत्तर बछरेर प्रवीण युवा रवीन्द्रनाथेर आशीर्भाषण।

नन्दनेर कुञ्जतले रञ्जनार धारा,
जन्म-आगे ताहार जले तोमार स्नान सारा।
अञ्जन से की मधुराते
लागाल के ये नयनपाते,
सृष्टि-करा दृष्टि ताइ पेयेछे आँखितारा।

एनेछे तव जन्मडाला अजर फुलराजि,
रूपेर लीलालिखन-भरा पारिजातेर साजि।
अप्सरीर नृत्यगुलि
तुलिर मुखे एनेछ तुलि,
रेखार बाँशि लेखाय तव उठिल सुरे बाजि।

ये—मायाविनी आलिम्पना सबुजे नीले लाले
कखनो आँके कखनो मोछे असीम देशे काले,
मलिन मेघे सन्ध्याकाशे
रंङिन उपहासि ये हासे
रंङजागानो सोनार काठि सेइ छोँयाल भाले।

विश्व सदा तोमार काछे इशारा करे कत,
तुमिओ तारे इशारा दाओ आपन मनोमत।
विधिर साथे केमन छले
नीरवे तव आलाप चले,
सृष्टि वुझि एमनितरो इशारा अविरत।

छबिर 'परे पेयेछ तुमि रविर वराभय,
धूपछायार चपल माया करेछ तुमि जय ।
तव आँकनपटेर 'परे
जानि गो चिरदिनेर तरे
नटराजेर जटार रेखा जड़ित हये रय ।

चिरबालक भुवनछवि आँकिया खेला करे ।
ताहारि तुमि समवयसी माटिर खेला घरे ।
तोमार सेइ तरुणताके
वयस दिये कभु कि ढाके,
असीम-पाने भासाओ प्राण, खेलार भेला-'परे ।

तोमारि खेला खेलिते आजि उठेछे कवि मेते,
नवबालक-जन्म नेबे नूतन आलोकेते ।
भावना तार भाषाय डोबा,—
मुक्त चोखे विश्वशोभा
देखाओ तारे, छुटेछे मन तोमार पथे येते ।

रासपूर्णिमा
९ अग्रहायण १३३८ बगाब्द
शान्तिनिकेतन

आशीर्वाद

(हिन्दी छाया)

पचास वर्ष के किशोरगुणी नन्दलाल वसु के प्रति
सत्तर वर्ष के प्रवीण युवा रवीन्द्रनाथ का आशीर्भाषण।

नन्दन-कुंज के नीचे रंजना की धारा है,
जन्म-पूर्व उस जल में तुम्हारा स्नान समापन हुआ।
वह कैसा अंजन मधुरात्रि में
लगाया न जाने किसने पलकों पर,
इसीसे सृष्टि-की दृष्टि मिली नेत्रतारे को।

तव जन्म-डाली लाई अजर फूलराजि (भर),
रूप की लीला-अक्षर-भरी पारिजात-डाली।
अप्सरा के नृत्यों को
ला उतारा तूलिका के मुख पर,
तुम्हारी लेखनी से रेखा की वंशी-स्वर में ध्वनित हो उठी।

जो मायाविनी हरे नीले लाल (रंगों के) अल्पना
कभी आँकती, कभी पोँछती, असीम देशकाल में,
मलिन बादलों में, सन्ध्याकाश में,
जो रंगीन मुस्कान की हँसी हँसता है,
उसी ने रंग-जगाने वाली सोने की सीक भाल पर छुलाई।

विश्व सदा तुम्हें कितने इशारे करता है,
तुम भी उसे अपने मनोनुकूल इशारे करते हो।
विधि के साथ कैसे बहाने से
तुम्हारा नीरव आलाप चलता है,
ऐसे अविरत इशारे ही शायद सृष्टि हैं।

चित्रों पर पाया तुमने रवि का वराभय,
धूप-छाया की चपल माया को तुमने किया जय।
तुम्हारे अङ्कन पट पर
जानता हूँ सदा के लिए
नटराज की जटा-रेखा जडित हुई रहती है।

चिर बालक भुवन चित्र अङ्कित कर खेलता है।
मिट्टी के क्रीडा-गृह में तुम उसी के समवयस्क हो।
तुम्हारी उस तरुणाई को
क्या कभी वय से ढँका जा सकता है,
असीम की ओर क्रीडा की नाव पर प्राणों को बहाओ।

तुम्हारे ही खेल को खेलने के लिए आज कवि मत्त हो उठा है।
नूतन आलोक में नव बालक जन्म लेगा।
उसकी भावना भाषा में डूबी हुई है,—
मुक्त आँखों से विश्व-शोभा
दिखलाओ उसे तुम्हारे पथ पर जाने के लिए मन दौड रहा है।

—क० तो०

रीतिकालीन वस्त्राभरण : सौन्दर्यबोध और आकर्षण की सृष्टि में सहायक उपकरण के रूप में

ललन राय

वस्त्राभरण और यौनाकर्षण :

वस्त्राभरणों की उत्पत्ति तथा उनके उपयोग से संबंधित विभिन्न मूल कारणों की गहराई से छान-बीन की जाये तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें अलंकरण एक प्रमुख कारण है। अलंकरण में आकृष्ट करने की भावना निहित होती है। जहाँ तक यौन आकर्षण का प्रश्न है, उसकी सृष्टि बहुत-कुछ वस्त्राभरणों के माध्यम से ही होती है। वस्त्र यह कार्य शरीर या उसके विभिन्न अंगों को छिपाकर करते हैं और आभूषण तथा अन्य प्रसाधन-उपकरण उन्हें प्रकाशित करके। यदि गहराई से विचार किया जाये तो यह धारणा कि अंगों को ढक कर कामोद्दीपन या यौन आकर्षण को कम किया जाता है—असंगत सिद्ध होगी। प्रायः नंगी रहने वाली कुछ आदिम जातियों की वस्त्राभरण-विषयक धारणाओं पर इस दृष्टि से विचार किया जाये तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि नग्नता में यौनाकर्षण और कामोत्तेजन नहीं के बराबर होता है। लारेंस लांगनरने फ्रांस अधिकृत पश्चिमी अफ्रिका के पांगोवासियों के सम्बन्ध में बताया है कि उन्होंने अपनी स्त्रियों को वस्त्र पहनने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि वस्त्र धारण कर वे अधिक सुन्दर बन जाएँगी, जिससे दूसरे गाँवों के लोग उनकी ओर आकृष्ट होंगे।[1] भारतवर्ष में भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें वस्त्रों का बहुत ही कम चलन है पर उनमें खुले अंगों को देखकर किसी प्रकार का कामोत्तेजन नहीं होता। आज के भारतीय समाज में प्रचलित वेशभूषा और उससे सम्बन्धित धारणाओं को ध्यान में रखकर हम इस बात की कल्पना तक करने को तैयार नहीं होंगे कि वस्त्र धारण करने से यौनाकर्षण और कामोत्तेजन की वृद्धि होती है तथा इनकी अनुपस्थिति में उनका ह्रास। किन्तु अमेरिका के नग्नतावादी संघ (नूडिस्ट सोसाइटी) द्वारा उद्घाटित तथ्यों पर विचार करें तो यह बात सत्य प्रमाणित होगी। वहाँ कुछ वर्षों से यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि आधुनिक जीवन की उलझनों से मुक्ति पाने के लिए कुछ समय तक प्राकृतिक अवस्था (नेचुरल स्टेट) में रहा जाए। वहाँ इसके लिए निर्जन स्थानों में बहुत से शिविर स्थापित किये गये हैं, जिनमें लोग विश्राम (रिलैक्सेशन)

१, 'द इम्पार्टेन्स आव वियरिंग क्लोद्स' पृ० ४१।

के लिए जाते हैं। प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हुए वहाँ लोग पूर्णतया नग्न रहते हैं। इन शिविरों में जाने वाले अन्य व्यक्तियों का कहना है कि वहाँ की पूर्ण नग्नता में किसी प्रकार का यौन विक्षोभन नहीं लक्षित होता। एक कला-अध्यापक का कहना है कि पूर्णतया नग्न स्त्री-प्रतिरूप को देखकर उसके विद्यार्थियों में किसी प्रकार का उद्दीपक प्रभाव लक्षित नहीं हुआ। लेकिन वही प्रतिरूप जब हैट या मोजे में उनके सम्मुख प्रस्तुत किया गया तो कक्षा में एक बेचैनी-सी दिखायी दी।२ उपर्युक्त सभी तथ्य इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि यौन आकर्षण एवं विक्षोभन की क्षमता वस्त्रों में ही होती है। वैसे भी पूर्ण नग्नता किसी समाज में देर तक आकर्षण का विषय नहीं रह सकती। आभूषणों एवं अन्य प्रसाधन-उपकरणों में यह क्षमता और भी अधिक होती है।

काम—जिसे फ्रायड ने 'ईगो लिबिडो' की संज्ञा दी है—एक शारीरिक भूख है। आदमी भूख लगने पर जैसे खाना खाकर उसकी तुष्टि कर लेता है, कुछ वैसी ही स्थिति काम भावना की तुष्टि में होती है। भूख के समय भोजन के प्रति आकर्षण शरीर की आवश्यकता तक सीमित होता है। ऐसी स्थिति में भोज्य को देख कर मनमें एक विक्षोभ या उत्तेजना अवश्य होती है, पर वह भोजन-प्राप्ति पर समाप्त हो जाती है। काम की स्थिति भी अपने मूल रूप में कुछ ऐसी ही है। पाक-कला के आविर्भाव के साथ ही भोजन के प्रति एक मानसिक आकर्षण का भी उदय हुआ, जो भूख न रहने पर भी हमारी चेतना को उत्तेजित करता है। यहाँ पर आकर्षण और उत्तेजना बहुत-कुछ मानसिक रूप धारण कर लेते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो भूख (एपीटाइट) क्षुधा (हंगर) में रूपान्तरित हो जाती है। इसी प्रकार परिधान-कला द्वारा रूपान्तरित कामेच्छा यौनाकर्षण का रूप धारण करती है। कहने का अभिप्राय यह कि यौनाकर्षण से आज हम जो तात्पर्य ग्रहण करते हैं, वह बहुत कुछ मानसिक (साइकिक) है। यौनाकर्षण-जनित कामोत्तेजना में काम (सेक्स) की शारीरिक भूख भी हो सकती है, किन्तु हर स्थिति में यह आवश्यक नहीं।

प्राचीन भारतीय साहित्य पर भी दृष्टिपात करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उपयुक्त वस्त्राभरण यौन आकर्षण के लिए आवश्यक हैं। वात्स्यायन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि '(स्त्री को) बहुत से आभूषण, अनेक प्रकार के पुष्प, अंगराग और उज्ज्वल वस्त्र पहन कर पति के पास जाना चाहिए।' 'नायिका एकान्त में नायक के सामने अनलंकृत न दीखे।' 'नायिका को पसीना, दाँतों के मैल और दुर्गन्धियों को जानना चाहिए, क्योंकि ये सभी नायक

२, वही, पृ० ४२।

के मन में विरुचि उत्पन्न करने के कारण बनते हैं।'३ इन उदाहरणों से स्पष्ट संकेतित होता है कि वस्त्राभरण एवं अन्यान्य प्रसाधन-उपकरण सौन्दर्य-वृद्धि और यौन आकर्षण की सृष्टि में पर्याप्त सहायक हैं।

नैसर्गिक सौन्दर्य का ज़ोरदार व्याख्यान करने वाले कालिदास ने पार्वती एवं शकुंतला के सम्बन्ध में कहा है—

'यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैः जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षटपदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥' कुमार० ५।९

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मालिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥' अभि० १-१९

किन्तु यहाँ जटा-धारिणी पार्वती और वल्कल धारिणी शकुंतला की सहज शोभा के आतिश्य को दिखाने के लिए ही कालिदास ने ऐसा किया है। जटा और वल्कल शोभा के अनुपकारक होते हुए भी पार्वती एवं शकुंतला के सहज सौन्दर्य को कम नहीं कर पाते। प्रसाधित केशों या रेशमी वस्त्रों से निश्चय ही उनके सौन्दर्य में वृद्धि होती—स्वयं कालिदास ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे कहते हैं, 'जिस प्रकार फूल आ जाने पर लताएँ स्वयं खिल उठती हैं, तारों के निकल आने पर रात जगमगाने लगती है, ठीक उसी प्रकार आभूषण पहना दिए जाने पर पार्वती की स्वाभाविक शोभा और खिल उठी।'४ अपने इस अलंकृत सौन्दर्य को देखकर पार्वती स्वयं चकित हो उठीं—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः॥' कुमार० ७।२२

पार्वती की शिव के सम्मुख उपस्थित होने की तीव्र इच्छा इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्त्रियों के लिए वेशभूषा या शृंगार का मुख्य उद्देश्य प्रिय को प्रसन्न करना है। सौन्दर्य वृद्धि के साथ ही वस्त्राभरणों में यौन आकर्षण की भी क्षमता होती है। कालिदास की रचनाओं में इस तथ्य से संबंधित अनेक उदाहरण मिलते हैं—

---

३. 'बहु विभूषणं विविधकुसुमानुलेपनं विविधांगराग समुज्ज्वलं वास इत्याभिगामिको वेषः।' —कामसूत्र २, सं० पं० मध्वाचार्य, पृ० ७०४ 'नायकस्य च न विमुक्तभूषणं विजने संदर्शने तिष्ठेता।'—वही, पृ० ७०० 'स्वेद दंतपंक दुर्गंधांश्च बुध्येतेति विराग कारणम्।'—वही, पृ० ७०४.

४. कुमार० ७।२१।

'नितान्त लाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।
पदे-पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चित्तं क्रियते समन्मथम् ॥' ऋतु० १।५

लाक्षा रस में रंजित और हंसों के समान रुन-झुन करने वाले नूपुरों से युक्त चरण लोगों के चित्त में काम का संचार करते हैं। इसी प्रकार चन्दन चर्चित, हिम सदृश उज्ज्वल शेखर हार से सजे पयोधर तथा हेम मेखला से वेष्टित नितम्ब-देश सभी के मन को चंचल कर देते हैं—

'पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखरा ।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम् ॥' ऋतु० १।६

ऋतुसंहार में इस तरह के उदाहरण भरे पड़े हैं। यहाँ एक बात लक्ष्य करने की है कि कालिदास ने वस्त्रों में यौन आकर्षण की क्षमता का उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर किया है। इस आकर्षण को हार आदि वक्षस्थल के आभूषण, मेखला, नूपुर आदि में विशेष रूप से दिखाया गया है। उक्त आभूषणों के साथ ही सुगंधित पुष्पमाल्य, लाक्षारस, विभिन्न अंगराग-अनुलेपन आदि में भी पुरुषों के यौन-भाव को उभाड़ने की क्षमता का आख्यान कालिदास ने किया है। लेकिन इसके विपरीत हिन्दी के उत्तर-मध्यकालीन साहित्य में आभूषणों तथा विभिन्न प्रसाधन उपकरणों के साथ ही रंग-बिरंगे और विभिन्न प्रकार के वस्त्रों में भी कवियों ने यौन-आकर्षण या कामोत्तेजन की शक्ति स्वीकार की है।

रीतिकालीन कवियों ने सैद्धान्तिक रूप में वस्त्राभरणों को उद्दीपन के अन्तर्गत परिगणित किया है। मनोविज्ञान-वेत्ता भी इस बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन लारेंस लागनर के अनुसार काम (सेक्स) के सम्बन्ध में वस्त्र-उद्दीपन के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। परिधान द्वारा मानव जाति ने एक यान्त्रिक चालन-प्रणाली की परिरचना की है, जिसके द्वारा यौन-वृत्तियों को इच्छानुसार 'आन' या 'आफ' किया जा सकता है। वस्त्राभरणों का यह कार्य विवाह ही नहीं, पुरुष और स्त्री के सभी सामाजिक सम्बन्धों में बड़े मूल्य का है।[५] सामाजिक दृष्टि से आज की भाँति रीतिकाल में विरहिणी प्रोषित-पतिकाओं, विधवाओं, सधवाओं, कुमारियों आदि के वस्त्राभरणों तथा अन्यान्य प्रसाधन-उपकरणों में यौन-वृत्ति को 'आन' और 'आफ' दोनों करने की क्षमता होती है। किन्तु जहाँ तक वस्त्राभरणों द्वारा आकर्ष की सृष्टि के सिद्धान्त का प्रश्न है, वह इससे खण्डित नहीं वरन पुष्ट ही होता है।

---

५ द इम्पॉर्टेंस आव वियरिंग क्लोद्स, पृ० ४२।

आंगिक सौन्दर्य और यौनाकर्षण :

रीतिकालीन नखशिख-वर्णन और अन्यान्य प्रसंगों में चित्रित सौन्दर्य को देखते हुए ऐसा लगता है कि बाल, आँख, कपोल, अधर, वक्षोदेश, कटि-प्रदेश, नितम्ब आदि में तत्कालीन कवियों ने विशेष यौनाकर्षण माना है। साथ ही नख, अँगुली, कान, नाक, ठुड्डी, हाथ-पैर आदि शरीर का कोई ऐसा अंग नहीं है, जिसमें उन्होंने यौनाकर्षण की स्थिति न स्वीकार की हो। लेकिन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने आकर्षण की दृष्टि से स्त्री-अंगों को दो भागों में बाँटा है—एक वे, जिनमें यौनाकर्षण की क्षमता होती है और दूसरे वे, जिनमें इस क्षमता का अभाव होता है। डब्ल्यू० सी० कनिंगटन ने उनके आधार पर इन अंगों में आकर्षक और तटस्थ—दो भेद किये हैं।६ आकर्षक अंगों को इन्हों ने यौन-उपांग (सेकेण्डरी सेक्सुवल कैरेक्टर) कहा है तथा इसके अन्तर्गत नितम्ब-प्रदेश, वक्षोदेश और शिरोभाग को परिगणित किया है। नितम्ब-प्रदेश से इनका अभिप्राय कटि से जाँघ तक के भाग से है।७ शिरोभाग (हैड) के अन्तर्गत इन्हों ने केश, आँख और मुख को माना है।८ तटस्थ अंगों में श्री कनिंगटन ने हाथ (स्कन्ध से अँगुलियों तक), पीठ और पाँव (घुटने से नीचे के भाग तक) की परिगणना की है।९ इनके अनुसार यौन उपांगों में तो यौनाकर्षण की क्षमता होती है लेकिन तटस्थ अंगों में यौन उपांगों की विशेषताएँ या तो नहीं रहतीं या उन्हें लक्ष्य नहीं किया जा पाता। परिधान कला के माध्यम से इन तटस्थ प्रदेशों में यौनानुरंजकता (सेक्स अपील) पैदा की जाती है, जो बहुत अंशों में कृत्रिम है।१० अन्त में काम-वृत्ति की लुका-छिपी (हाइड एण्ड सीक) की क्रीड़ा और यौनाकर्षण के अभिनय में उक्त सभी अंगों तथा उनसे संबंधित वस्त्रों के तुलनात्मक योगदान पर विचार किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इन तथ्यों से पूर्णतया सहमत हैं। लेकिन रीतिकालीन नखशिख वर्णन पर यौनाकर्षण की दृष्टि से विचार करते हुए कनिंगटन साहब का मत एक अंश तक ही संगत प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण है, उनके अध्ययन का यूरोपीय सौन्दर्य-बोध और यौनाकर्षण की धारणाओं पर आधारित होना। उन्होंने या वहाँ के अन्य विचारकों ने मात्र वस्त्रों के आधार पर ही अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए

---

६. व्हाय वीमेन वेयर क्लोद्स, अध्याय ४ और ५।

७. वही, पृ० १०९।

८. वही, पृ० ११६।

९. वही पृ० १३३-१५०

१०. वही, पृ० १३३।

हैं। भारत में प्रचलित आभूषणों तथा अन्यान्य प्रसाधन-विधियों की विविधता एव उनके साथ भारतीय जनमानस के भावनात्मक सबधों के विषय में यूरोपीय विद्वानों के निष्कर्षों को यथावत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आपादमस्तक वस्त्रों से ढकी हुई रीतिकालीन भारतीय नारी की अँगुली, नख, कान, नाक, ललाट यहाँ तक कि पैर की एड़ी तक भी कभी-कभी अनावृत होकर जन-चित्त में जिस आह्लाद और रसोद्रेक की सृष्टि करती थी, वह यूरोपीय जनों को तथाकथित यौन-उपांगों में भी शायद न प्राप्त हो पाए। इसका कारण यूरोप के प्रकाशनात्मक और भारत के उपगूहनात्मक वेश को ही माना जा सकता है। हाथ, पैर, गला, पीठ आदि को प्राय खुला देखते रहने के कारण यूरोपवासियों या आज के भारतीयों को चाहे उसमें सौन्दर्य या यौनाकर्षण न लक्षित हो पर रीतिकालीन धारणा इससे निश्चय ही भिन्न रही है। इस सम्बन्ध में बिहारी के दोहे हैं—

'गड़े बड़े छवि-छाक छकि, छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरग रग रँगि, उहीं, नहदी महँदी नैन॥'—बि० र०, ४४८
'सालति है नटसाल सी क्यौं हूँ निकसति नाहि।
मनमथ नेजा नोक सी खुभी खुभी जिय माँहि॥'—बि० र०, ६

कनिष्ठिका के छोर पर स्थित मेहँदी-युक्त नखों की शोभा के पान से मस्त नेत्र वहीं अटक जाते हैं, प्रयत्न करने पर भी वहाँ से नही छूट पाते। छिगुनी का नख तो शरीर का एक अग ही है, कामदेव के भाले की तरह 'खुभी' के हृदय में चुभ जाने और लाख यत्न करने पर भी न निकल पाने को क्या कहा जाये। गभीरता पूर्वक विचार किया जाये तो इसका कारण तत्कालीन समाज एव सस्कृति की जड़ों में मिल जाएगा। इन दोहों मे सौन्दर्य के प्रति तत्कालीन भाव-बोध को बड़ी ही स्पष्टता से व्यक्त किया गया है।

अब 'तटस्थ' अगों के सम्बन्ध में श्री कनिंगटन का मत विचारणीय है। उनका कहना है कि शरीर के इन अंगो के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे सुन्दर ही हों, उनका व्यजक होना ही पर्याप्त है। दर्शक की दृष्टि को आकृष्ट कर विशिष्ट आकर्षक अगो की ओर उसे केन्द्रित करने में ही उनकी सार्थकता है।[११] किन्तु भारतीय धारणा के अनुसार हाथ, पैर, अँगुली, नाक, कान आदि अगों का व्यजक (सजेस्टिव) होना ही नहीं वरन् उनका सुन्दर होना भी आवश्यक है। ठूँड़ी अँगुली मे चाहे कितनी ही सुन्दर अगूठी पहनी जाये और

---

११ व्हाय वीमेन वेयर क्लाद्स, पृ० १३४।

कानी आँख में चाहे कितने ही कलात्मक ढंग से काजल लगाया जाये, हास्यास्पद ही होगा। इन अंगों के सुन्दर-असुन्दर से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र—सामुद्रिक—ही भारतीय चिंतकों ने रच डाला है।

रीतिकवियों के पूर्ववर्ती हिन्दी कवि जायसी ने शरीर के अंगों में आकर्षक एवं तटस्थ भेद न कर, उन्हें चार-चार के चार वर्गों में विभक्त किया है।१२ प्रथम वर्ग के चार अंगों (केश, अँगुली, नेत्र और ग्रीवा) को दीर्घ होना चाहिए। द्वितीय वर्ग के चार अंगों (दाँत, कुच, ललाट और नाभि) को लघु, तृतीय वर्ग के चार (कपोल, नितम्ब, जाँघ और कलाई) को अच्छी तरह भरा हुआ और चतुर्थ वर्ग के चार (नाक, कटि, पेट, और अधर) को पतला या क्षीण होना चाहिए।१३ इनमें माँग, कान, चिबुक, पैर, पीठ आदि का उल्लेख तो नहीं है लेकिन उक्त सोलह अंगों के वर्णन के साथ ये सभी आ गये हैं।१४ जायसी के इस वर्णन को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी तटस्थ अंग का सुन्दर-असुन्दर होना यौनाकर्षण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता। हाथ की एक अँगुली कट जाए, अनुपात से बड़ी या छोटी हो जाए तो सारे शरीर के सौन्दर्य में अत्यधिक त्रुटि आ जानी है। इस सम्बन्ध में केशवदास के 'नखांगुलि मुद्रिका-वर्णन' को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—

गोरी-गोरी अँगुरिन राते से रुचिर नख
  और अति पैने-पैने रचि रुचि कीन्हें हैं।
रति-जय लेखिबे को लेखनी सुलेख किधौं
  मीन-रथ सारथी के नोदन नवीने हैं।
किधौं 'केसोदास' पंचबान जू के पाँचौ बान
  सकल भुवन जिहि बस करि दीने है।
कंचन कलित मनि मुदरी ललित मानो
  पिय परिजन मन हाथ करि लीने हैं॥'-केशव ग्रं० १, पृ० २०१।२९

नुकीले कटे हुए, लम्बे एवं लाल नखों से युक्त अँगुलियों को रति-विजय का उल्लेख करने वाली लेखनी का सुन्दर लेख कहना या उन्हें कामदेव के पंच-बाण बताना, उनमें यौनाकर्षण और

---

१२. पुनि सोरह सृंगार जस चारिहु जोग कुलीन।
  दीरघ चारि चारि लघु चारि सुभर चहु खीन॥ पद्मावत, दो० २९६
१३. वही, दो० ४६७।
१४. बिहारी रत्नाकर दोहा, १०६, ३०६, १४३।

कामोत्तेजन की क्षमता को स्वीकार करना है। यहाँ अधिक उदाहरण न देकर मात्र इतना कह देना ही पर्याप्त है कि अन्य सभी रीति-कवियों ने नाक, कान, ठुड्डी, एडी आदि अंगों मे यौन आकर्षण की स्थिति को स्वीकार किया है। यौन उपांगो की अपेक्षा इनकी क्षमता में मात्रात्मक भेद हो सकता है, गुणात्मक नहीं। अंगों के वर्णन मे वस्त्राभरण एव अन्यान्य प्रसाधन उपकरण स्वयमेव आ जाते है। इनके बिना अंगों का चित्रण बहुत कम ही मिलेगा। यही नहीं, कहीं-कहीं तो अंगों की अपेक्षा वस्त्राभरणों को ही आकर्षित और उत्तेजित करते हुए दिखाया गया है। जहाँ वे खुले वर्णित हुए हैं या वस्त्राभरणो का कोई उल्लेख ही नहीं किया गया है, वहा भी इनकी उपस्थिति-अनुपस्थिति की अवधारणा स्वयमेव हो जाती हैं।

पीछे सौन्दर्य-बोध और यौनाकर्षण की सृष्टि के सदर्भ मे वस्त्राभरणों तथा शरीर के अंगों के तुलनात्मक महत्त्व पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब देखना यह है कि रीतिकालीन कवियों ने किस प्रकार सौन्दर्य-बोध और यौनाकर्षण की सृष्टि में वस्त्राभरणों के महत्त्व को स्वीकार किया है।

सौन्दर्य-बोध की जानकारी के लिए वस्त्राभरणो के प्रयोग की विधियों को स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) वस्त्राभरणो के प्रयोग से अभिवृद्ध सौन्दर्य का चित्रण और (२) वस्त्राभरणो की स्थिति को नगण्य या शोभा का अनुपकारक बताकर सौन्दर्य का उत्कर्ष-निदर्शन। इन दोनों ही विधियों मे कवियो की दृष्टि प्राय उद्दीपन-परक ही रही है। आगे यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

(१) वस्त्राभरणों के प्रयोग से अभिवृद्ध सौन्दर्य-चित्रण

बिहारी ने सौन्दर्यांकन मे प्राय एक या थोड़े प्रसाधन-उपकरणो का सहारा लिया है। यथा—

'गोरी छिगुनी नख अरुन छला स्यामु छवि देइ।

लहत मुकुति रति पलकु यह नैन त्रिवेनी सेइ॥'—बि० र०, ३३८

यहाँ आलक्तक या मेहँदी लगे लाल नख तथा श्याम छला गौर-वर्ण कनिष्ठिका अँगुली के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। इस अभिवृद्ध सौन्दर्य के दर्शन से नेत्रों का त्रिवेणी (लाल सरस्वती, श्याम यमुना, गौर गगा) सेवन से प्राप्त मुक्ति की भाँति, रति रूपी मुक्ति प्राप्त करना, उसकी यौनाकर्षण क्षमता को सूचित करता है। बिहारी जहाँ सौन्दर्य के प्रभावांकन के चक्कर मे नहीं

पड़े हैं, वहाँ उनका चित्रण और भी व्यंजक बन पड़ा है। टीके से अभिवृद्ध ललाट की शोभा का यह उदाहरण दर्शनीय है—

नीको लसतु लिलार पर टीको जरितु जराइ।
छबिहिं बढ़ावत रबि मनौ ससि मण्डल मैं आइ॥'—बि० र०, दो० १०५

'ललाट पर जडाऊ टीका इस प्रकार शोभित हो रहा है, मानो चन्द्रमण्डल में आकर सूर्य उसका सौन्दर्य बढ़ा रहा हो।' साधारणतया सूर्य चन्द्र-मण्डल को श्रीहत ही करता है, लेकिन यहाँ कवि ने यह मान लिया है कि यदि चन्द्रमण्डल में आकर सूर्य उसकी शोभा को बढ़ाए तो जैसा लगेगा, टीका भी ललाट पर वैसा ही लग रहा है। बिहारी ने ललाट के वर्णन में प्रायः बिन्दी द्वारा उसके सौन्दर्योत्कर्ष को दिखाया है—

'कहत सबै बेंदी दियैं आँकु दसगुनो होतु।
तिय लिलार बेंदी दियैं अगनितु बढ़त उदोतु॥'—बि० र०, ३२७

यहाँ 'अगनित' से बिहारी का तात्पर्य गणितात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत करना न होकर, बिन्दी के योग से बढ़ने वाली मुख की शोभा की ओर मात्र संकेत करना है। मतिराम ने और भी सुन्दर ढंग से इस ओर संकेत किया है—

'वंदन तिलक लिलार में, ऐसी मुख छबि होत।
रूप भौन में जगमगै, मनौ दीप की जोति॥'—मति० सत०, ६९६

'रोली या गोरोचन के तिलक से मुख की शोभा ऐसी हो रही है, मानो सौन्दर्य-गृह में दीपक की ज्योति जगमगा रही हो।' यहाँ मतिराम ने सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी एक विशेष धारणा का उद्घाटन किया है। सौन्दर्य एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे देखा नहीं, मात्र अनुभव किया जा सकता है। बिना किसी ठोस आधार के यह अंधकार में प्रच्छन्न रहता है। जिस प्रकार कमल की सम्पूर्ण शोभा उसकी अपनी होती है, किन्तु सूर्य और भ्रमर के योग से ही वह प्रकाशित हो पाती है, उसी प्रकार शरीर के अंगों में निहित सौन्दर्य उसका अपना होता है, पर वस्त्राभरणों की अनुपस्थिति में वह बोधगम्य नहीं हो पाता। यहाँ पर कालिदास द्वारा स्वयंबर-सभा में चित्रित इन्दुमती-प्रसंग का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्बरा सा।
नरेन्द्रमार्गट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥—रघु० ६।६७

संचरण करने वाली दीपशिखा-सी इन्दुमती जब स्वयंबर-सभा में राजाओं के सम्मुख जाती है उनकी सौन्दर्य-चेतना उद्‌बुद्ध हो उठती है, पर उसके हटते ही वे विवर्ण-मुख हो बुझ-से जाते हैं। उनके उल्लास-दीप्त चेहरे सहसा वैसे ही निराशाच्छन्न हो जाते हैं जैसे

रात में दीपशिखा के आगे बढ़ जाने पर प्रकाश हीन अट्टालिकाएँ फिर अंधकाराच्छन्न हो उठती हैं। तुलसी दास ने इस तथ्य को और अधिक स्पष्टता से अंकित किया है—

'सुन्दरता कहँ सुन्दर करहीं। छवि-गृह दीपसिखा जनु बरहीं॥'

यहाँ सीता के सौन्दर्योत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए उन्हें सुन्दरता को सुन्दर करने वाली 'छवि-गृह' की दीपशिखा कहा गया है। 'छवि-गृह' अपने आप में शोभा का पुंज है परन्तु दीपशिखा के बिना वह संवेद्य नहीं बन सकता। ठीक यही स्थिति शारीरिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में आभूषणों एवं अन्य प्रसाधन-उपकरणों की भी माननी चाहिए।

ललाट और मुख की ही भाँति कान और नाक के सौन्दर्यांकन में भी बिहारी ने उनमें पहने जाने वाले आभूषणों की सहायता ली है।[१४] जहाँ तक वस्त्रों का सम्बन्ध है, बिहारी ने सौन्दर्योत्कर्ष तथा यौन आकर्षण की सृष्टि में उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। श्वेत साड़ी में शोभायमान होती हुई कंचन-वर्णा नायिका का वर्णन करती हुई दूती नायक से कहती है—

'सोहति धोती सेत में कनक-बरन तन बाल।
सारद-बारद बीजुरी-भा रद कीजति लाल॥'—बि० र०, ४७८

श्वेत वस्त्राच्छादित नायिका की स्वर्णाभा, शारदीय बादल में स्थित बिजली की आभा को व्यर्थ कर देती है। यहाँ साड़ी उसकी स्वर्णाभा को छिपाती नहीं, प्रकाशित करती है। शरीर,[१५] मुख,[१६] और कुचों[१७] के वर्णन में बिहारी ने उनके वस्त्रों से सर्वत्र यही कार्य लिया है। उक्त सारे वर्णन मुख्य रूप से उद्दीपन की दृष्टि से हुए हैं। अर्थात् इनका उद्देश्य सौन्दर्योत्कर्ष को दिखाकर नायक को नायिका के प्रति आकृष्ट करना, नायिका को नायक से मिलने के लिए प्रेरित करना या दोनों के काम-भाव को उद्दीप्त करना है। रीतिकालीन सम्पूर्ण सौन्दर्य-विधान प्रायः इन्हीं दृष्टियों से हुआ है।

बिहारी के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि उन्हों ने सौन्दर्य-बोध और यौनाकर्षण के लिए कम-से-कम अंगों और उनसे सम्बन्धित अलंकार साधनों का एक साथ उल्लेख किया है। अन्य दोहा-बद्ध रचनाओं या शतकों में भी प्रायः यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। लगता है इसका बहुत कुछ कारण दोहा छन्द की परिमिति है। लेकिन कवित्त और सवैया में रचना करने वाले

---

१५ वही, ३४०, १९०।
१६ वही, ३०४, १८८।
१७ वही, १८९।

रीतिकालीन कवियों ने एक साथ ही कई अंगों और एकाधिक अलंकरण-उपकरणों के योग से सौन्दर्य का अत्यन्त मादक चित्र उपस्थित किया है। इस सम्बन्ध में भिखारीदास का एक कवित्त उल्लेखनीय है—

पंकज से पायन में गूजरी जरायन की
घाँघरे को घेर दीठि घेरि-घेरि रखियाँ।
'दास' मनमोहिनी मनिन के बनाय
बनि कंठमाल कंचुकी हवेल हार पखियाँ।
अंगन को जोति जाल फैलावत रंगलाल
आवत मतंग चाल लीने संग सखियाँ।
भाग भरी भामिनी सुहाग भरी सारी सुही
माँग भरी मोती अनुराग भरी अँखियाँ॥ भि० ग्रं० १, १४४।२५२

वस्त्राभूषणों के माध्यम से यहाँ नायिका का अत्यन्त मादक एवं रागोद्दीपक रूप प्रकट हुआ है। नामोल्लेख से बहुत-कुछ बचते हुए पद्माकर ने सम्पूर्ण प्रसाधन-उपकरणों से अभिमण्डित नायिका का चित्रण इसी प्रकार किया है।१८

कवि ने वहाँ प्रसाधन-उपकरणों के प्रयोग से अभिवृद्ध सौन्दर्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। सखी राधिका के जिस अंग पर आभूषण पहनाती है, उस अंग के अभिवृद्ध सौन्दर्य पर वह स्वयं रीझ जाती है। आभूषणों से राधा का शरीर उसी प्रकार शोभायमान होता है, जैसे रत्न डाँक (पारदर्शी वरक) लगा देने से और अधिक सुन्दर दिखायी देने लगते हैं। बेनी प्रवीण ने भी सौन्दर्य को बोधगम्य बनाने के लिए वस्त्राभरणों के सहारे रूपांकन किया है—

नूपुर नगन सजे पगन प्रवीन बेनी, चमकत छपि छोर घाँघरे घनेर मैं।
उन्नत उरोज कसी कंचुकी कुसुंभी लसी, भुजबंध मोती माल कंठसिरी मेर मैं।
बंदन दिठौना दै दुरायो मुख घूँघट मैं, झीनी स्याम सारी त्यों किनारी चहुँ फेर मैं।
भूमि-सुत भानु-सुत जुन सोभमान भयौ, झलकै मयंक घन दामिनि के घेर मैं॥

—नवरस तरंग, ६१।४३८

पैरों में नगजड़ित नूपुर, घने घेर के घाघरे का सामने की ओर झलकता हुआ छोर, भुजबंध, मोतीमाल, कण्ठमाल आदि के मेल में उन्नत उरोजों पर कसी हुई कंचुकी, पारदर्शी तथा चारों तरफ किनारे से युक्त श्यामवर्ण साड़ी के घूँघट में बिन्दी और दिठौने से सुशोभित झलकता

१८. पद्माकर ग्रंथावली ११५।३५३।

हुआ चन्द्रमा जैसा मुख आदि जिस मादक और रागोद्दीपक सौन्दर्य का बोध कराते हैं, वह इन वस्त्राभरणों और प्रसाधन-उपकरणों की अनुपस्थिति में संभव न हो पाता। इस प्रसंग में देव की नवल्त्र्‌ का चित्र भी दर्शनीय है।१९

मतिराम ने आभूषणों तथा अन्य प्रसाधन-उपकरणों के प्रयोग से अभिवृद्ध सौन्दर्य के साथ ही नायक के चित्त को आकृष्ट करने की उनकी क्षमता का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दे मृदु पायन जावक को रंग नाह को चित्त रँगै रंग रातें।
अंजन दै कर नैननि में सुखमा बढ़ि स्याम सरोज प्रभातें।
सोने के भूषन अंग रचौ मतिराम सबै बस कीबे को घातें॥'

—ललि० छ० ५६

स्त्रियों की साज-सज्जा में इस प्रकार की आकर्षण एवं बंधन-क्षमता अवश्य रहती है, जिसका आख्यान अन्य सभी कवियों ने किया है।

(२) वस्त्राभरणों की स्थिति को नगण्य अथवा शोभा का अनुपकारक बताकर सौन्दर्य का उत्कर्ष-निदर्शन :

ऊपर हमने देख लिया है कि वस्त्राभरण सौन्दर्य को बढ़ाते ही नहीं वरन् उसकी स्थिति का भान भी बहुत-कुछ उन्हीं के माध्यम से होता है। रीतिकाल के प्राय सभी कवियों ने इस तथ्य की पुष्टि की है। लेकिन कहीं-कहीं इन कवियों ने सहज सौन्दर्य के लिए अलंकरण-उपकरणों को अल्पावश्यक बताया है। इस सम्बन्ध में बिहारी का निम्नलिखित दोहा दर्शनीय है—

तन भूषन अंजन दृगनु, चरन महावर रंग।
नहि शोभा को साजियतु, कहिबै हीं कौ अंग॥'—बि० र०, २३६

लगभग यही बात मतिराम ने इस प्रकार कही है—

'बिरी अधर अंजन नयन, मिहँदी पग अरु पानि।
तन कंचन के आभरन, नीठि परत पहिचानि॥'—मति० सत०, दो० ८७

तात्पर्य यह है कि अधर, पैर, हाथ की लालिमा, आँखों की श्यामता तथा अंगों की स्वर्णाभा अपने स्वाभाविक रूप में इतनी अधिक है कि उनमें प्रसाधन-उपकरण छिप जाते हैं। यही नहीं, मतिराम का तो यहाँ तक कहना है कि—

---

१९ शब्द रसायन छ० ७०।

'जो ते पहिरे सुन्दरी, सो दुति अधिक उदोतु ।

तेरे सुबरन रूप तें रूपा सुबरन होतु ॥'—मति० सत०, दो० ६५१

यहाँ नायिका के अंगों पर आकर आभूषण ही सुन्दर लगने लगते हैं। उनकी स्वर्णाभा से चाँदी के आभूषण भी स्वर्ण-से दिखाई देते हैं। इसी बात को भिखारी दास ने और अधिक विस्तार से कहा है—

और तन भूषन सजत निज शोभा हित

भामिनि तूँ भूषननि सोभा सरसाई है।

लागत बिमल गात रूपन के आभरन

आभा बढ़ि जाति जातरूप तें सवाई है ॥—भि० ग्रं० १, २६।२४९

अंगों पर पड़ते ही चाँदी के आभूषणों में सोने से सवाई कान्ति आ जाती है। प्रसाधन उपकरणों की व्यर्थता बताते हुए सेनापति कहते हैं—

मालती माल तेरे तन को परस पाइ

और मालतीन हूँ तें अधिक बसाति है।

सोने के सरूप तेरे तन को अनूप रूप

जातरूप भूषन तें और न सुहाति है।

* * *

प्यारी और भूषन को भूषन है तन तेरौ

तेरियै सुबास और बास बासी जाति है ॥—कबित्त रत्नाकर, १९।२८

इस प्रकार के अनेकशः उदाहरण रीतिकाव्य में मिल जाते हैं। जिनमें आभूषणों तथा अन्य प्रसाधन-उपकरणों की स्थिति को शोभावर्द्धन में नगण्य माना गया है। लेकिन वस्त्रों की अनुपस्थिति में भी सहज सौन्दर्य को शोभन बताया गया हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह है कि अन्य प्रसाधन-उपकरणों की अनुपस्थिति में तो अंगों की शोभा की कल्पना की जा सकती है, पर वस्त्रों की अनुपस्थिति में नहीं। ऊपर आए हुए उदाहरणों पर यदि गहराई से विचार किया जाये और कवि के निहित उद्देश्य को भी दृष्टि में रखा जाये तो यही ध्वनित होगा कि आभूषण या अन्यान्य प्रसाधन-उपकरण भी नितान्त नगण्य नहीं हैं। उक्त सभी उदाहरणों में दूतियाँ या सखियाँ नायिकाओं के सहज सौन्दर्य को पर्याप्त बताकर, उनके राग को उद्दीप्त करती हैं। बिहारी और मतिराम के आरम्भ के दो दोहों में दूतियाँ नायिका के सौन्दर्योत्कर्ष को दिखाकर नायक को उनकी ओर आकृष्ट करती हैं। उक्त उदाहरणों में सर्वत्र नायिकाओं को आभूषण धारण किये हुए या धारण करते हुए दिखाया गया है, जो इस

तथ्य की ओर एक स्पष्ट संकेत है कि वे अपनी सहज सुन्दरता के होते हुए भी यौनाकर्षण की वृद्धि के लिए अलंकरण को आवश्यक समझती हैं।

रीतिकाव्य में ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिल जाते हैं, जिनमें प्रसाधन-उपकरणों को नगण्य ही नहीं वरन् शोभा का अनुपकारक भी बताया गया है। शोभा के भार से लदी हुई बिहारी की नायिकाओं के लिए तो आभूषण एक समस्या बन गये हैं—

'भूषन भारु सम्हारि हैं, क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा हीं के भार ॥'—बि० र०, ३२२

इनकी नायिकाओं के लिए अंगराग शरीर के सहज विकास को उसी प्रकार मलिन करनेवाला है, जिस प्रकार उच्छ्वास दर्पण की निर्मलता को।२० नायिका को निषेध करती हुई सखी उससे कहती है कि 'तू स्वर्ण के आभूषण मत धारण कर! वे तेरे अंगों पर दर्पण में लगे हुए मोरचे की तरह दिखाई देते हैं।२१ यही नहीं, बिहारी आभूषणों को पायदाज (फुट-पैड) तक की संज्ञा दे डालते हैं, जो लोगों की दृष्टि से शरीर की छवि को मलिन होने से बचाते हैं।२२ रामसहाय की सुकुमार नायिका चन्द्रहार और चम्पाकली भी धारण करने में असमर्थ दीखती है—उससे फूलों के हार का भी भार नहीं सहा जाता।२३ चन्द्रहार और चम्पाकली की बात तो दूर रही, नायिका की सखी प्रसाविका को उसे छल्ला पहनाने से भी रोकती है तथा उसकी कोमल अँगुलियों को मेहँदी के रंग का भार भी सहन करने में असमर्थ बताती है।२४ 'वर्ण, जाति एवं लक्षण सभी दृष्टियों से सुन्दर स्त्री भी आभूषणों के बिना शोभयमान नहीं होती'—२५ के आख्याता केशवदास ने प्रसंग-भेद से यहाँ तक कह डाला है—

काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली
तेरे अंग सहज सिंगार ही सिंगारे है।'—केशव ग्रं० १, १४९।१२

इन उदाहरणों से तो यही लगता है अलंकरण सामग्रियाँ व्यर्थ ही नहीं वरन् सहज सौन्दर्य की अनुपकारक भी हैं। लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न है। स्थिति और प्रसंग को ध्यान में

२० बिहारी रत्नाकर दोहा ३३४।
२१ वही ३३५।
२२ वही ४१३।
२३ राम-सतसई, ४८६।
२४ मति० सत०, ३१५।
२५ 'जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजही, कविता बनिता मित्त ॥'—केशव

रखकर देखें तो कवियों द्वारा ऐसा मत व्यक्त करने के मूल में कई कारण दिखाई देंगे। 'अनुकूल या दक्षिण-नायक की प्रेयसियों, रूप एवं प्रेमगर्विताओं, मुग्धा नायिकाओं आदि के प्रसंग में ही प्रसाधन-उपकरणों को हेय बताया गया है। साथ ही नायिकाओं के सौन्दर्योत्कर्ष को दिखाने या दूतियों द्वारा नायिका की मिलनोत्कण्ठा को तीव्र करने के लिए भी ऐसा किया गया है। सुरुचिपूर्ण और कलात्मक ढंग से धारण किये गये आभूषण या प्रसाधन-उपकरण कभी भी शोभा के अनुपकारक नहीं हो सकते। जहाँ तक यौनाकर्षक का प्रश्न है, उसके लिए वस्त्रों के साथ कुछ अन्य प्रसाधन-उपकरण, कम-से-कम रीतिकालीन समाज के लिए आवश्यक थे। आज की सौन्दर्यबोध और यौनाकर्षण सम्बन्धी धारणा में यद्यपि पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, फिर भी बिना किनारी के सादे वस्त्र, रूखे बाल, बिन्दी और सिन्दूर से शून्य ललाट तथा माँग, आभूषण से एक दम रहित सुन्दर-से-सुन्दर नारी भी आज के औसत भारतीय हृदय में सौन्दर्य का उद्रेक नहीं कर सकती। साधारण वस्त्रों में लिपटे हुए सौन्दर्य से अभिभूत होकर वह उसकी ओर पवित्रता, आदर, दया आदि के भाव से आकृष्ट होगा, पर यौन-भाव से नहीं।

रीतिकवियों द्वारा स्वीकृत 'सहज शृंगार' भी इसी ओर संकेत करता है कि सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री भी प्रसाधन-उपकरणों से सर्वथा शून्य नहीं रहनी चाहिए। इस सम्बन्ध में बिहारी का कथन है—

'बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे राजै खरी, एई सहज सिंगार॥'—बि० र०, ६७९

इससे यही सिद्ध होता है कि स्वाभाविक सौन्दर्य के लिए भी 'सहज शृंगार' का होना आवश्यक है। रीतिकवियों द्वारा प्रतिपादित विच्छित्ति हाव इसी सहज शोभा और सहज शृंगार के योग पर आधारित है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

'इन्दु जित्यौ अरबिन्द जित्यौ तैं गुबिन्द जित्यौ इक बिन्दु दै भाल में॥'
—बेनी-नवरस तरंग, ५९।४२६

'चारिक चुरी कर सोहाग माँग मोती इतने ही इतराति सालै सौतिन करेज ही।'
—देव-सुजान० ५२।२७

'एरी बाल तेरे भाल चंदन के लेप आगे
लोपि जात और के हजारन के गहने।'—भि० ग्रं० १, १४७।२६३

'भूषन भार सिंगारन सों सजी सौतिन को जु करै मुख फीको।
जोति को जाल बिसाल महा तिय-भाल पै लाल गुलाल को टीको॥' पद्मा० ग्रं० १७४।३९४

'इमि इक मृगमद बिन्दु सों किए सुबस ब्रज चंद।'—पद्मा० ग्रं०, १७५।४४०

इन नायिकाओं में यद्यपि अपना निज का पर्याप्त सौन्दर्य है, फिर भी नायक की यौन-भावना

को उद्दीप्त करने के लिए वे थोड़े-बहुत प्रसाधन-उपकरणों का सहारा अवश्य लेती हैं। अतः रीतिकवियों द्वारा आभूषणों एवं अन्य प्रसाधन उपकरणों को नगण्य या शोभा का अनुपकारक बनाना, सिद्धान्त की अपेक्षा सौन्दर्योत्कर्ष दिखाने की विशिष्ट परिपाटी का द्योतक है। सौन्दर्यबोध और यौनाकर्षण की सृष्टि में दो ही स्थितियों की कल्पना की जा सकती है, एक में वस्त्राभरणों की उपस्थिति और दूसरी में उनकी अनुपस्थिति। जहाँ इनमें से एक का भी उल्लेख नहीं हुआ है, वहाँ कवि या सहृदय स्वयं अपनी ओर से उनकी उपस्थिति-अनुपस्थिति की कल्पना कर लेते हैं।

अत्यन्त प्राचीनकाल से स्त्री-पुरुष अपने को आकर्षक बनाने के लिए वस्त्राभरणों एवं अन्यान्य प्रसाधन-विधियों का सहारा लेते आए हैं। नेविल ट्रूमन ने 'एडम' और 'ईव' के उदाहरण द्वारा इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इडेन के बगीचे में प्रथम बार पत्तियों की मेखला धारण कर 'ईव' ने 'एडम' के लिए अपने को और आकर्षक बनाया। आज तक स्त्री जाति इस कृत्रिम उपाय का प्रयोग करती जा रही है।२६ यद्यपि वस्त्राभरण स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष के अन्यान्य सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं किन्तु स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में इनका मुख्य कार्य यौनाकर्षण ही है। रीतिकाव्य और तत्कालीन समाज की दृष्टि से तो यह बात पूर्णतः सत्य है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

हरि आगम की अगना सुनि चाह सवाँरति अंग हुलास हियो।
कवि आलम भूषन वेष बने छवि कोटिहि मैन के अंग लियो।
तिल्कद्दुति कुंकुम मध्य ललाट सुचारु जराउ को बिन्दु दियो।
अनुराग ते जाग जगम्मग मानो सुहाग को भाग प्रकास कियो॥—आलम केलि, १४६।३७८

प्रिय-आगमन सुनकर नायिका द्वारा बहुविधि बनाव-शृंगार इस बात की ओर स्पष्ट संकेत है कि वह यौन-दृष्टि से अपने को पूर्णतः समर्थ बनाना चाहती है। इस बनाव-शृंगार के बाद स्त्रियों की स्वाभाविक इच्छा प्रिय से मिलने की होती है—

सुख सेजहि साजि सिंगार सजे गुहिवार सुगंध सबै चसि कै।
चुनि चूनरी लाल खरी पहिरी कवि देव सुबेस रह्यौ लसि के।
पिय भैंटिवे कों उमगी छतियाँ सु छिपावति हेरि हियो हँसि कै।
अँगिया की तनी खुलि जाति घनी सु बेनी फिर बाँधति है कसि कै॥—सुजान विनोद, ३५।२२

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निस्संदिग्ध भाव से कहा जा सकता है कि रीतिकाव्य में वस्त्राभरणों एवं अन्यान्य प्रसाधन-उपकरणों की योजना मुख्यतः सौन्दर्य को बोधगम्य बनाने तथा यौनाकर्षण की सृष्टि की दृष्टि से हुई है।

---

२६ हिस्टारिक कास्ट्यूमिंग पृ० १।

ग्रंथ समीक्षा

वैदिक मैथेमैटिक्स आर सिक्स्टीन सिम्पल मैथेमैटिकल फार्मूले फ्राम दी वेदाज़—
ले० जगत्गुरु स्वामी श्री भारती कृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ पुरी के शंकराचार्य,
प्रकाशक—हिंदू विश्वविद्यालय, काशी, १९६५, पृ० सं० ३६७, मूल्य १० रुपये।

आश्चर्यजनक रूप से सरल सोलह गुरों की खोज गोवर्धनमठ, पुरी के स्वर्गीय शंकराचार्य जी ने वेदों के आधार पर की है। यह गुर कुछ अंकगणितीय हिसाबों, बीजगणितीय विश्लेषणों तथा कुछ रेखागणितीय समस्याओं की आकर्षक सिद्धि को हल करने की सुगम विधियाँ प्रस्तुत करते हैं। सामान्य रूप से देखने पर कृति में प्रस्तुत गुरों की विधियाँ कुछ जटिल सी दिखती हैं; किन्तु थोड़ा ध्यान देने पर यह समझाना कठिन नहीं है कि इन विधियों के माध्यम से सही परिणाम किस प्रकार निकलते हैं। प्रस्तुत कृति में जिन गुरों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उनमें से किसी का भी प्राचीन भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञों में से किसी ने भी उल्लेख नहीं किया है। यह बात ध्यान देने योग्य है।

कृति में उनके विद्वान् लेखक ने कहा है कि आठ वर्ष की तपस्या और अत्यंत श्रमपूर्वक की गई शोधों के पश्चात् अथर्ववेद में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर इन सोलह गणितीय गुरों को व्यवस्थित रूप दिया गया है। उन मूल आधारों का कृति में निर्देश नहीं किया जिनका सहारा इन गुरों को प्रस्तुत करने में लिया गया है। सामान्य व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह इन महत्त्वपूर्ण गुरों की व्याख्या करनेवाले मूल स्रोतों को ढूँढ सके। स्वामीजी की अद्भुत खोजों के परिणामों से ही उन्हें संतोष करना पड़ेगा।

—वि० सेन

ला कुल्तूरा देल्लिंदिया इयेरो ए ओज्जो (भारतीय संस्कृति—अतीत और वर्तमान)—
लेखिका—अमालिया पेज्जाली, तूरिन, १९६५।

मिलान (इटेली) के साकरो कुओरे कैथोलिक यूनिवर्सिटी के उपकुलपति के आमंत्रण पर डा० पेज्जाली ने उक्त विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों के समक्ष जनवरी १९६३ में भारत के संबंध में तीन विशेष व्याख्यान दिए थे। वही व्याख्यान पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए हैं। पहले व्याख्यान में भारतीय सभ्यता के आधारभूत स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्य, आख्यान काव्य, पुराण, शैवागम, षड्दर्शन आदि का सरस और सहज परिचय देते हुए प्राचीन भारतीय समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की है। दूसरे व्याख्यान में बौद्ध और जैन साहित्य की चर्चा की गई है तथा दोनों धर्मों के दार्शनिक और सामाजिक पक्षों को भी स्पष्ट किया है। तीसरे व्याख्यान में भारत की आधुनिक संस्कृति, स्वाधीनता संग्राम तथा हमारे विश्वविद्यालयों के विकास और उनकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला है।

विदुषी लेखिका को कदाचित् ऐसे श्रोता समुदाय को भारतीय संस्कृति का परिचय देना था जो उससे बिल्कुल ही अनभिज्ञ था, इस कारण उसने यह ध्यान रखा है कि मूल आधारों का श्रोताओं को परिचय भी मिल जाय और जटिलताओं से भी बचा जा सके। सभी महत्त्वपूर्ण अंगों का उल्लेख उन्होंने किया है जिससे भारतीय संस्कृति का पूरा चित्र संक्षेप में पाठक को मिल सकता है। अंत में जो पुस्तक तालिका दी है तथा जिस विश्वास के साथ सामग्री प्रस्तुत की है उससे लेखिका की विद्वत्ता तथा भारत के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क की सूचना मिलती है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि बहुत ही सहानुभूतिपूर्वक हमारे देश की संस्कृति और समस्याओं को समझने का उन्होंने यत्न किया है। पाश्चात्य जगत् के सम्मुख हमारी संस्कृति की ऐसी निष्पक्ष व्याख्या के लिए लेखिका का प्रयास प्रशंसनीय है।

उनके भाषणों में एक दो वक्तव्य ऐसे हैं जिनका कोई आधार नहीं है किन्तु पश्चिमी विद्वान् जिन्हें बराबर दुहराते आ रहे हैं, डा० पेज्जाली ने भी उन्हें दुहराया है इसमें उनका दोष नहीं है, ये हैं आर्यों का बाहर से आना और भारतीय सभ्यता को नया रूप देना तथा भारतभूमि के मूलनिवासियों को दास बनाना (पृ० १०), वर्णाश्रम धर्मों से बँधे हुए भारतीय समाज में व्यक्ति के लिए बहुत कम स्वतन्त्रता है, यदि वह सन्यासी हो जाय तो भले ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है—(पृ० १८), शिव अनार्य देवता थे (पृ० २०), अछूत लोग सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से पीड़ित होकर बहुसंख्या में मुसलमान हो गए (पृ० ५०)। ये सब विवादग्रस्त प्रश्न हैं जिन्हें डा० पेज्जाली ने स्वतःसिद्ध मानकर दुहराया है। क्या प्रमाण है कि आर्य बाहर से आए और भारत से ही बाहर नहीं गए। मध्ययुग में बहुत से सवर्ण हिंदू भी मुगलों की कृपा प्राप्त करने के लिए मुसलमान बन गए थे।

हमारे देश की भाषा समस्या पर भी लेखिका ने कुछ कहा है और विविध पक्षों को दृष्टि में रखकर भविष्यवाणी की है कि अंग्रेज़ी सदा हमारे विश्वविद्यालयों में एक आवश्यक भाषा के रूप में बनी रहेगी। ऐसे कतिपय स्थलों को छोड़कर पुस्तक बहुत ही संतुलित है और भारत की कठिनाइयों के प्रति लेखिका की सहानुभूति का परिचय स्थल स्थल पर मिलता है।

कृति की भूमिका सोर्बोन विश्वविद्यालय, पेरिस के तुलनात्मक दर्शन के प्रोफेसर ओलीविए लाकोम्ब ने लिखी है। लेखिका के संबंध में उन्होंने कहा है 'लेखिका की उच्च योग्यता को देखकर मैं पूर्ण विश्वास के साथ इस कृति को पाठकों के समक्ष रखने की शिफारिश कर सकता हूँ। इस कृति को प्रस्तुत करना मेरे लिए सम्मान और प्रसन्नता की बात है। भारतीयता के श्रेष्ठतम पाश्चात्य विशेषज्ञों से लेखिका ने पढ़ा है और रोम, बनारस तथा पेरिस से डाक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त की हैं।' पुस्तक के प्रमाणित होने की यह महत्त्वपूर्ण संस्तुति है।

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, प्रकाशक—भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, पृ० २६५ तथा पाँच परिशिष्ट, मूल्य १२) रु० ।

प्रस्तुत कृति पर पटना विश्वविद्यालय से लेखक को डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई है। पिछले वर्षों में अपभ्रंश का पर्याप्त साहित्य प्रकाशित हुआ है और उससे कहीं अधिक अप्रकाशित साहित्य की सूचनाएं प्रकाशित हुई हैं। अपभ्रंश भाषा और साहित्य का अध्ययन आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है। अपभ्रंश भाषा का डा० श्रीवास्तव ने अपनी कृति में बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढँग से विवेचन किया है। प्रथम खण्ड में अपभ्रंश भाषा और साहित्य से संबंधित विविध प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। 'अपभ्रंश' शब्द का इतिहास, देशी भाषा और अपभ्रंश का संबंध, अपभ्रंश और आभीर गुर्जरों का उससे संबंध जैसे विषयों का इस खण्ड में विवेचन है। दूसरे, तीसरे और चौथे खण्डों में क्रमशः अपभ्रंश ध्वनियों, शब्दरूपों तथा अर्थ का भाषा वैज्ञानिक विवेचन विस्तार से किया गया है।

अभीतक हिंदी भाषा के इतिहास से संबंधित कृतियों में प्रायः प्राकृत और अपभ्रंश में प्राप्त शब्दरूपों और ध्वनियों के उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर दिए जाते थे इससे संस्कृत और आधुनिक बोलियों में व्यवहृत शब्दों के रूपों की बीच की कड़ी की कल्पना स्पष्ट नहीं हो पाती थी। प्रस्तुत कृति से यह अभाव दूर हो सकेगा। डा० श्रीवास्तव जी ने अपनी कृति में अपभ्रंश के वाक्य विन्यास का अध्ययन नहीं किया है। अपभ्रंश वाक्य रचना भी हिंदी तथा अन्य आधुनिक बोलियों की वाक्य रचना पर प्रकाश डाल सकती है। अपभ्रंश गद्य के नमूने अभी तक प्रायः नहीं ही प्राप्त हुए हैं, किन्तु पद्य के आधार पर भी कुछ न कुछ विवेचन करना संभव है।

विद्वान् लेखक ने अपनी कृति में अपभ्रंश शब्दों को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत रूप दिए हैं। संस्कृत से अपभ्रंश तक आते आते बीच में अनेक परिवर्तन हुए होंगे, उनकी झलक प्राकृतों में मिलती है। प्राकृतों का प्रचुर साहित्य प्रकाशित हो चुका है। अपभ्रंश रूपों को और स्पष्ट करने के लिए बीच के प्राकृत रूपों के भी और अधिक उदाहरण दिए जाते तो कृति और भी रोचक बन जाती। संस्कृत ही वास्तव में मध्य भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का आधार रही है—यह सत्य होते हुए भी अपभ्रंश और प्राकृतों की भाषा विषयक सम्पूर्ण विशेषताओं की व्याख्या संस्कृत व्याकरण के आधार पर करना संभव नहीं है। लेखक ने संस्कृत के आधार पर प्रायः अपभ्रंश भाषा के सभी पक्षों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। कही कहीं ऐसा लगता है कि संस्कृत की अपेक्षा यदि अन्य बोलियों का भी सहारा लिया जाता तो अपभ्रंश की कुछ समस्याएं और भी स्पष्ट हो जातीं। जैसे, लेखक ने अपभ्रंश संज्ञाओं के एकारान्त रूपों पर विचार करते हुए मत व्यक्त किया है कि इस संबंध में निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत के करण या अधिकरण किस का प्रभाव इस पर पड़ा है (पृ० १३६)। पूर्वी अपभ्रंश में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—'रूखेर तेन्तलि कुंभीरे खाअ', 'कुंभीरे' कर्ता कारक का एक बचन का रूप है। बंगला में ऐसे प्रयोग बहुत मिलते हैं- 'लोके बले'– अर्थात् लोग कहते हैं—संभव है ऐसे

प्रयोग मागधी से आए हों। लेखक ने अपभ्रंश के भेदों को स्वीकार किया है किन्तु अलग अलग उनकी अपनी विशेषताओं का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। सीधे संस्कृत से अपभ्रंश शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हुई, बीच के रूपों का भी उल्लेख होने से क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता—रेखा से लीह, कदापि से वि, उपदेश से एउस, अभिसार से अहिकार किस प्रकार बने यह समझने के लिए ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप देने की आवश्यकता है। बकरा बहुत संभव है अरबी से फारसी के माध्यम से आया शब्द है जिसका अपभ्रंश रूप बोक्कड मिलता है (पृ० २५५) ऐसा होने से उसके कृत्रिम संस्कृत रूप बर्कर को देने की कोई आवश्यकता नहीं है (पृ० २४७)। प्राकृतों तथा अपभ्रंशों की एक प्रमुख विशेषता है—धात्वादेशों का प्रचुर प्रयोग। श्रीवास्तवजी ने 'धात्वादेशों' का उल्लेख किया है किन्तु विस्तार से बचने के लिए उन्होंने उनका यथोचित अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास के प्रसंग में आभीर गुर्जरों का उल्लेख दण्डी जैसे कुछ प्राचीन काव्य समीक्षकों ने किया है, भोज ने कहा है कि अपभ्रंश से गुर्जर तुष्ट होते हैं। विशेष विस्तार या स्पष्टीकरण के अभाव में ऐसे संकेत विशेष महत्त्व नहीं रखते। इन संकेतों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि आभीरादि का अपभ्रंश के विकास में प्रमुख हाथ रहा है। अभी तक जो प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मिला है उसमें कदाचित् कोई भी रचना आभीरों की नहीं मिली है। यह सच है कि आभीरादि किसी युग में बहुत प्रतापी थे और उत्तरी भारत की भाषा और साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा होगा किन्तु उस प्रभाव को केवल 'उनका' ही नहीं कहा जा सकता। डा० श्रीवास्तवजी ने यह प्रायः स्वीकार सा कर लिया है कि आभीर गुर्जरों ने अपभ्रंश को नाना प्रकार से प्रभावित किया है और जहाँ कहीं उन्हें अपभ्रंश में ऐसे तत्त्व मिले हैं जिनकी व्याख्या संस्कृत व्याकरण के आधार पर आसानी से नहीं की जा सकी उसे उन्होंने आभीरों का प्रभाव कह कर टाल दिया है। आभीरों की चर्चा के लिए पृ० ११४, ११५, १२४, १२९, १३४, १६३, २५१ देखे जा सकते हैं। अपभ्रंश में प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का स्वाभाविक विकास मिलता है, बाह्य प्रभाव उसमें आकर मिले होंगे किन्तु बहुत ही कम और उन्हें अलग करना बहुत कठिन है, वर्तमान युग के आभीर और गुर्जरों की बोलियों से भी अपभ्रंश के विकास को समझने में विशेष कोई सहायता कदाचित् नहीं मिल सकेगी।

अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के लिए प्रस्तुत कृति बहुत उपयोगी सिद्ध होगी, कृति में लेखक के पाण्डित्य का परिचय प्रत्येक पृष्ठ पर मिलता है। विवेचन अत्यंत बोधगम्य शैली में किया गया है। अंत में कुछ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट दिए गए हैं।

छपाई की अनेक भूलें रह गई हैं और कागज़ भी अच्छा नहीं लगाया गया है। समीक्षार्थ भेजी गई पुस्तक की प्रति में पहले १६ पन्ने ही गायब हैं। इसके लिए प्रकाशकों की असावधानी की भर्त्सना होनी ही चाहिए। ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियों को शुद्ध छापने में प्रकाशकों को विशेष सतर्क रहना चाहिए।

—रामसिंह तोमर

समीक्षार्थ प्राप्त ग्रंथ—

१. साहित्यरत्नकोशे अभिलेखसंग्रह—सं० बहादुर चन्द छाबड़ा, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६४।

२. द अशोकावदान—सं० सुजितकुमार मुखोपाध्याय, प्रकाशक : सा० अ०, नई दिल्ली, १९६३।

३. बाल साहित्य—ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सं० लीला मजुमदार, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६२।

४. चिंड़ि—शिवशंकर पिल्लाइ, अनु० बोम्माना विश्वनाथम्, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६५।

५. ताओ-ते-चिं लाओ-त्स, अनु० अमितेन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६०।

६. अमृतानुभव ओ चांगदेव-पासष्टी—ज्ञानदेव विरचित, अनु० श्री गिरीशचन्द्र सेन, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६५।

७. लून-य्यू—अनु० अमितेन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६४।

८. ओयालडेन—हेनरि डेभिड थरो, अनु० श्रीकिरणकुमार राय, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६४।

९. ऊनिश बिघा दुइ काठा—फकीरमोहन सेनापति, अनु० मैत्री शुक्ल, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६५।

१०. रामचरितमानस का तत्वदर्शन—ले० डा० श्रीशकुमार, प्रकाशक : लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर, १९६६।

११. वसंत-विलास और उसकी भाषा—सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रकाशक : क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, सन् १९६६।

१२. इण्ट्रोडक्शन अ लेतुदे दे लार्त देलिन्द—सं० ज्याजिने अबोए, प्रकाशक : इस्तितुतो इतालियानो पर इल मेदिओ एद इस्त्रेमो ओरियेन्ते, रोम, जिल्द ३१, सन् १९६५।

१३. शिफ़त-नाम-यी दरविश मुहम्मद हान-इ गाज़ी—प्रकाशक : वही, जिल्द ३२, सन् १९६५।

१४. ए स्टडी आन दी रत्नगोत्रविभाग (उत्तरतंत्र), बीइंग ए ट्रीटिज़ आन दी तथागत थियोरी अव् महायान बुद्धिज्म, सं० ज़िकिदो तकसकी, प्रकाशक : वही, जिल्द ३३, सन् १९६६।

आचार्य नंदलाल वसु

शिल्पाचार्य नंदलाल वसु, जिनको हम श्रद्धापूर्वक 'मास्टरमशाय' कहकर पुकारते थे, गत १६ अप्रैल को नहीं रहे। वे कई महीनों से अस्वस्थ थे और अवसान के कुछ महीने पूर्व से अस्वस्थता के कारण उन्होंने नियमित कला-आराधना बंद कर दी थी। उनके आकस्मिक निधन से गहरा धक्का लगा क्योंकि यद्यपि वे अस्वस्थ थे तथापि यह कोई नहीं सोचता था कि वे इतनी जल्दी हम लोगों के बीच से उठ जावेंगे। उनकी उपस्थिति हमारे लिए प्रेरणादायक थी। उनका व्यक्तित्व और साधना ऐसे थे कि सभी की उनके प्रति श्रद्धा थी और सभी के वे समानभाव से प्रिय थे। इस युग के महानतम व्यक्तियों के वे प्रीति और सम्मान के भाजन रहे, यह उनकी महानता का प्रतीक है। कला जगत् के वे जाज्वल्यमान् रत्न थे। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और हैवेल जैसे कला मर्मज्ञों के वे प्रशंसापात्र थे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन्हें श्रद्धा और स्नेह पूर्णमात्रा में प्राप्त हुए, गुरुदेव की 'आशीर्वाद' शीर्षक कविता तथा उनके एक लेख से, जो अन्यत्र इसी अंक में प्रकाशित किए जा रहे हैं, इसका आभास मिलेगा। महात्मा गांधीजी के 'मास्टर मशाय' कृपापात्र थे। महात्माजी कला के संबंध में उनके विचारों का बहुत आदर करते थे। महात्माजी के आग्रह से शिल्पाचार्य वसु ने अखिल भारतीय काँग्रेस के लखनऊ, फैजपुर, हरिपुरा में हुए वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर कला प्रदर्शनियों का आयोजन करके कला के प्रचार को व्यापक रूप दिया। पण्डित नेहरू जब जब शान्तिनिकेतन आते थे 'मास्टर मशाय' के घर उनका दर्शन करने अवश्य जाते थे।

सौंदर्य और उदात्त तत्त्व के वे उपासक थे और सौंदर्य की सृष्टि करने में अनवरत सारा जीवन लगे रहे। गुरुदेव की विद्यालय की कल्पना को साकार रूप देने में 'मास्टर मशाय' के योगदान की छाप शान्तिनिकेतन में देखी जा सकती है। शान्तिनिकेतन में सम्पन्न होनेवाले नाना उत्सवों, साहित्य सभाओं, अभिनयों को सुंदर बनाने तथा कलात्मक रूप देने में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से 'मास्टर मशाय' का योग रहता था। शान्तिनिकेतन के नाना भवनों में उनके द्वारा अंकित चित्रों ने इन छोटे छोटे भवनों को असीम सौंदर्य और गौरव से मण्डित किया है। 'मास्टर मशाय' जितने बड़े कलाकार, शिल्पी और आचार्य थे उतने ही या उससे भी महान् मानव थे, उदात्त मानव मूल्यों के प्रति वे पूर्ण आस्थावान् थे। कला और शिल्प के शिक्षक के रूप में उनकी ख्याति और सफलता के प्रत्यक्ष प्रमाण देश के कोने कोने में बिखरे उनके अनेक योग्य शिष्य कलाकार हैं। विद्यार्थियों की अपनी मौलिक प्रतिभा के विकास, उनके अपने व्यक्तित्व को पूर्ण प्रस्फुटित होने का पूरा अवसर वे देते थे। उनकी संवेदनाओं को समझने की उनमें अद्भुत क्षमता और दृष्टि थी। उनकी कला विषयक शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता थी उसका रूढ़िमुक्त होना। प्राचीन भारतीय कला और उसकी समृद्धिशाली परंपराओं से वे परिचित थे, उन्होंने पूर्वीय एशियाई देशों की यात्रा की थी और चीन, जापान, मलाया इण्डोनेशिया, तथा प्राचीन मिश्र, ग्रीक, रोमन कला परंपराओं से परिचित थे। सभी शैलियों

को समझते हुए उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा के सहारे भारतीय कला के व्यक्तित्व की पुनः प्रतिष्ठा की। अपनी निर्मल कला साधना से विश्वभारती के कलाभवन को जो रूप उन्होंने दिया उससे वह गौरवान्वित है और आशापूर्वक उज्ज्वल भविष्य की ओर देख सकता है। कलाभवन के माध्यम से भारतीय कला के क्षेत्र में जो जागृति उन्होंने फैलाई उसके लिए उनका सदा स्मरण किया जावेगा। जिन लोगों को उनके साथ कार्य करने का अवसर मिला है वे उनके सहज स्वभाव, सौजन्य, चिंतनशील प्रवृत्ति, परिश्रम और लगन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

'मास्टर मशाय' हमारी पत्रिका के प्रारंभिक संपादक-मण्डल के सदस्य थे। पत्रिका के आवरण पृष्ठ की लिपि और सप्तपर्णी का पुष्प उन्हीं के द्वारा अंकित किया गया था। पुराने अंकों में कला के संबंध में उनके कई महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। उनके निधन के साथ भारतीय कला के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त होता है। अपने विशद अर्थ में कलाओं को हमारे शिक्षित वर्ग में जो उचित सम्मान आज मिल रहा है उसका बहुत कुछ श्रेय गुरुदेव और 'मास्टर मशाय' को मिलना चाहिए।

आचार्य नंदलाल वसु का जन्म सन् १८८२ में मुंगेर ज़िले में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् कलकत्ता के गवर्मेंट स्कूल अव् आर्ट में उन्होंने प्रवेश लिया। उनके गुरु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और कला में दक्ष होने का पूरा प्रोत्साहन दिया। कलकत्ता में वे हैवेल, परसी ब्राउन, डा० आनंद कुमारस्वामी के संपर्क में आए। १९१० में उन्होंने अजंता की गुफाओं के भित्तिचित्रों की प्रतिकृति की और १९२१ में तत्कालीन ग्वालियर राज्य के निमंत्रण पर बाघ की गुफाओं के भित्तिचित्रों की प्रतिकृति की जो इस समय ग्वालियर के गूजरीमहल संग्रहालय में संग्रहीत हैं। सन् १९१९ में वे शांतिनिकेतन आए और १९२२ में वे कलाभवन के प्रिंसिपल हुए और फिर आजीवन शांतिनिकेतन में ही रहे। १९२४ में गुरुदेव के साथ उन्होंने चीन, जापान, मलाया, बर्मा की यात्रा की। १९३४ में बड़ौदा महाराज के निमंत्रण पर वहाँ के कीर्त्तिमंदिर में भित्तिचित्र बनाए। १९५१ में उन्होंने कलाभवन से अवकाश ग्रहण किया और वे विश्वभारती के आजीवन प्रोफ़ेसर एमेरीटस बनाए गए। १९५० में हिंदू विश्वविद्यालय, काशी ने, १९५२ में विश्वभारती ने, १९५७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने, १९६३ में रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। १९५४ में भारत सरकार ने पद्मविभूषण उपाधि प्रदान की। अनेक प्रसिद्ध विद्वत्संस्थाओं ने भी उन्हें सम्मानित किया। शिल्पकला, शिल्पचर्चा नामक उनकी कृतियों के कई भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं।

'मास्टर मशाय' का पार्थिव शरीर नहीं रहा ; किन्तु शान्तिनिकेतन उनके कार्य और कृतियों से बहुत काल तक आलोकित रहेगा। कला, शिल्प के पुनरुत्थान का जो महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया है उसका स्मरण हमारी आधुनिक युग की संस्कृति के इतिहास लेखक सदा आदर के साथ करेंगे। 'मास्टर मशाय' की यशःकाया को जरामरण का कोई भय नहीं है। हम श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करते हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

गत २७ जुलाई को भारतीय संस्कृति के नाना अङ्गों के गंभीर मर्मज्ञ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का ६२ वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। उनके निधन से अपूरणीय क्षति हुई है। व्यापक अर्थ में संस्कृति का जो अर्थ हम लेते हैं उसके अनेक अंगों के इतिहास के वे अधिकारी विद्वान थे। शिक्षा और व्यवसाय की दृष्टि से वे पुरातत्त्ववेत्ता थे। लेकिन उनकी रुचि बहुमुखी थी। लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य, व्याकरण, इतिहास, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी साहित्य सभी पर उन्होंने मौलिक ढँग के ग्रंथ लिखे और व्यापक दृष्टि से प्रत्येक अंग पर विचार किया। उनकी प्रसिद्धतम कृति 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ने अध्येताओं को अध्ययन की एक नई दिशा सुझाई और उससे प्रेरणा पाकर अनेक कालों और साहित्यिक रचनाओं के आधार पर सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किए गए। पद्मावत पर उनके संजीवनी भाष्य ने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन की एक दूसरी दिशा का बोध कराया, इसी प्रकार के उनके प्रत्येक ग्रंथ ने कुछ न कुछ नई प्रेरणा प्रदान की। प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के सहारे उन्होंने मध्ययुगीन साहित्य की अनेक गुत्थियों को सुलझाने और समझाने का प्रयत्न किया। हमारे देश में इस प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण के विद्वानों की बहुत कमी है। डा० अग्रवाल अपेक्षाकृत कम अवस्था में चल बसे इससे साहित्य और संस्कृति के उच्च अध्ययन और शोध की बहुत बड़ी क्षति हुई है।

विश्वभारती की कर्मसमिति के वे कई वर्षों तक सदस्य थे। विश्वभारती पत्रिका में उनके लेख प्रकाशित करने का हमें अवसर मिला था। पिछले अंक में ही हमने उनका लेख प्रकाशित किया था। संसार भर के प्राच्यविद्या प्रेमी उनके पाण्डित्य से प्रभावित थे। और भारत की विद्वन्मंडली में उनका बड़ा सम्मान था, गोहाटी में हुए प्राच्यविद्या सम्मेलन के वे सभापति थे। नवयुवकों को, जो उनके पास अध्ययन की दिशा समझने जाते थे या पत्र लिखते थे, डा० अग्रवाल सदा उत्साहवर्धक दिशा बोध कराते थे। विद्या सचमुच उनका व्यसन था। सरस्वती के इस सच्चे आराधक और ज्ञान के अन्वेषक के असामयिक निधन से हुई क्षति कल्पनातीत है। उनकी दिवंगत आत्मा को भगवान शान्ति प्रदान करे।

—रामसिंह तोमर